पाथेय

भाग-२

मानव सेवा संघ

वृन्दावन

पाथेय

भाग-२

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन, मथुरा (उ०प्र०)

卐

सर्वाधिकारी प्रकाशक

卐

द्वितीय संस्कार—४,००० प्रतियां
जुलाई, १९९४

卐

मूल्य ₹ 10

卐

ब्रज बिहारीलाल शर्मा
बी०एस-सी०, एल-एल०बी०
विद्यालय प्रेस, केशीघाट,
वृन्दावन
फोन:- (०५६५) ४४२५७१

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी
कृपा से, दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का
बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का
बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख
के बन्धन से मुक्त हो, आपके
पवित्र प्रेम का आस्वादन
कर कृतैकृत्य
हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी
कृपा से मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा
बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें,
एवं हे करुणासागर ! अपनी अपार
करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का
नाश करें । सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

दो शब्द

अपने सब पुरुषार्थ कर चुकने के बाद भी जब जीवन का सूनापन नहीं मिटा तब मुझे ऐसा सूझने लगा कि भगवान् के घर का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त मिल जाता तो मुझे भी राह दिखा देता। मैंने ऐसी आवश्यकता महसूस की और मुझे ऐसे सन्त मिल गये। उन्होंने एक कुशल अनुभवी चिकित्सक की भाँति भव-रोगों से ग्रसित मेरे व्यक्तित्व को अपनी निगरानी में ले लिया। भवरोग-नाशिनी दिव्य-दृष्टि से मेरे तन, मन और अहं का परीक्षण हुआ। दशा का निदान एवं निवारणार्थ साधना का चुनाव तत्क्षण हो गया। प्रथम साक्षात्कार (*Interview*) में ही बिना मेरे पूछे वह सब कह दिया गया, जिसकी मुझे जरूरत थी, अर्थात् जो मेरे लिए जीवन की राह थी। मुझे बहुत दिनों के बाद पता चला कि १ जनवरी १९५४ को प्रातःकाल जो कुछ श्रीमहाराजजी ने मुझे बताया वह मेरी दीक्षा थी।

सत्संग और साधना का क्रम आरम्भ हुआ। भव-रोगों से मुक्त कर साधक के शुद्ध अहं को कैसे-कैसे ज्ञान के प्रकाश-पुंज

और प्रेम के अनन्त रस में परिवर्तित किया जाता है इस दिशा में सत्यनिष्ठ, अनुभवी, मार्गदर्शक सन्त ने मेरे अवस्थान्तरण (*Transference of Stages*) के क्रम में अपने अनूठे, अद्‌भुत प्रयोगों का आरम्भ किया। मेरा निवास श्रीमहाराज जी से दूर नगर में था। दशाओं का परिचय देना, साधन-पथ में उठने वाले प्रश्नों का प्रस्तुतिकरण एवं उनका समाधान पत्र-व्यवहार से ही होता था।

'पाथेय' में संकलित पत्र अहं के विकास की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक भी हैं और उनके निवारणार्थ अमोघ साधनों की शृङ्खला भी। मेरे लिए इन पत्रों में तुलसी-बिरवों सी पावनता है, जिनमें अहं की मलिनता का नाश करने की अमोघ शक्ति है।

इन पत्रों के लिखाने वाले संत को मैं क्या कहूँ! अनेक बार ऐसा हुआ है कि साधन-काल में जिस क्षण व्याधियाँ प्रकट होती थीं मेरे मन में, उसी क्षण श्रीमहाराजजी जहाँ भी कहीं होते, मेरी दशा का पता चल जाता उनको और वे तत्काल ही उस व्याधि की निवृति के उपाय लिखवा कर भेज देते। कभी-कभी ऐसा होता था कि इधर मैंने प्रश्न लिखकर भेजने के लिए तैयार किया तब तक उधर से उत्तर लिखकर आ गया। कभी इससे भी बढ़कर आश्चर्यजनक बात यह हो जाती थी कि मुझे अपनी व्याधि का पता तब चलता जब पत्र में उसका निराकरण लिखकर आता था। मैं आश्चर्यचकित होकर रह जाती थी कि श्रीमहाराजजी ने मेरी उन गुत्थियों को जाना कैसे, जिसका मुझे भी पता नहीं था!

श्री महाराजजी की अहं-शून्य अर्न्तदृष्टि इतनी पैनी थी कि साधक के पथ में उभड़ते हुए गहन से गहन मनोवैज्ञानिक एवं गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक तथ्य उनको स्पष्ट दिख जाते थे। सर्वात्म-भाव से भावित संत-हृदय, भव-रोगों के दल-दल में फँसे हुए

जनित अभिन्नता में वह संजीवनी-मूरि प्रकट होती थी जो साधक में नवजीवन का संचार कर सकती है।

उनके लिखाये हुए पत्रों ने मुझे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में 'पथ' और 'पाथेय', सब कुछ दिया है। साधन-काल की समस्याओं को सुलझाने के साथ-साथ भावी उद्भव का भी अथक अचूक प्रयास है इन पत्रों में—मेरे अवस्थान्तरण के साथ सम्बोधन के शब्द भी क्रमिक ढंग से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए जीवन की अन्तिम परिणति को इंगित करने वाले हो गये हैं। कितनी लगन, कितनी तत्परता थी उस परम कारुणिक संत के हृदय में एक आतुर साधक के जीवन को पूर्ण बनाने की! कितनी कलायें वे जानते थे भव-रोगों से दबे हुए अहं को ऊपर उठाकर उद्गम की ओर उन्मुख करने की! कभी-कभी पत्र पढ़ते-पढ़ते मैं पत्र-लेखक की महिमा में स्वयं ही खो जाती थी—पत्र पढ़ना भूल जाती थी।

मेरे लिए ये पत्र अमृत-कण हैं; जीवन-दर्पण हैं। प्रगति के पथ पर आगे-आगे बढ़ते जाने में इनके अर्थों की गहनता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इनके संग्रह में प्रकाशन का ख्याल नहीं था। साधन-पथ के सम्बल के रूप में इनको संजोया मैंने—मेरा काम हो गया। अब इस 'पाथेय' से जीवन-पथ के अन्य पाथिकों को पुष्टि मिले—इसी सद्भावना के साथ,

देवकी

अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान जिस ज्ञान में निहित है वही ज्ञान वास्तव में मानव का अपना पथ-प्रदर्शक है।

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। इस विधान का बोध उन्हीं को होता है जो विवेक का अनादर नहीं करते। अतः निज विवेक का आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

—संतवाणी

१५६

पटना
६-१२-६१

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सत्संग में सर्वतोमुखी विकास निहित है और सत्संग की मानवमात्र को सुविधा तथा स्वाधीनता है। कारण कि, अपने द्वारा जो करना है, उसके करने में पराधीनता नहीं है। यह स्वाधीनता मानवमात्र को मंगलमय विधान से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग न करना मानव की अपनी भूल है। अपनी भूल को मिटाने का दायित्व मानव के रचयिता ने मानव पर ही रखा है। दायित्व पूरा करने में स्वाधीनता है। कारण कि, दायित्व पूरा करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ स्वतः प्राप्त होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। माँग और दायित्व का पुञ्ज ही मानव का अस्तित्व है। माँग की पूर्ति होती है। दायित्व पूरा करना है।

माँग की जागृति में दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण माँग की विस्मृति हो जाती है—माँग का नाश नहीं होता। उस विस्मृति को मिटाने के लिए ही अभाव-जनित वेदना उत्पन्न होती है। परन्तु प्रमादवश मानव अभाव-जनित वेदना को कामना-पूर्ति के सुख से मिटाने का मिथ्या प्रयास करने लगता है; जब कि प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है।

अपनी कामना से ही मानव आप पराधीन हो गया है। निष्कामता को अपनाये बिना असंगता की अभिव्यक्ति नहीं होती। असंगता के बिना तादात्म्य नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए सत् का संग सम्भव नहीं है। सत्संग के बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है।

उत्पन्न हुए असाधन के नाश का प्रश्न मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है, जिसका हल एकमात्र सत्संग से ही है। उत्पन्न हुआ असाधन स्वतः दिखाई देता है। उसे देख उसके कारण की खोज कर उसका सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है। असाधन के रहते हुए चैन से रहना ही असाधन को पोषित करना है। असाधन-जनित वेदना साधन की उत्कट लालसा को पोषित करती है, जो विकास का मूल है। मानव की माँग साधन-निष्ठ होकर साधन-तत्व से अभिन्न होना है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है।

निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक जाने हुए असत् का त्याग करना है, जिसके करते ही सत् का संग स्वतः हो जाता है। अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने से भी सत् का संग हो जाता है। सत्संग होते ही समस्त जीवन साधन हो जाता है—साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व ही नहीं रहता। असाधन के रहते हुए ही साधक और साधन का विभाजन प्रतीत होता है। असाधन का नाश असत् के त्याग में ही निहित है। और साधन की अभिव्यक्ति, सत् के संग से ही होती है। वास्तव में तो असत् का त्याग और सत् का का संग जिस प्रकार युगपद् है, उसी प्रकार असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् है।

साधन-तत्व से भिन्न साधक का वास्तविक स्वरूप कुछ नहीं है, अर्थात् अगाध प्रियता ही अपना जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१५७

पटना

७-१२-६१

स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता के तुल्य कोई अन्य सौन्दर्य नहीं है। कारण कि, निर्विकारता सभी को स्वभाव से आकर्षित करती है। किन्तु प्रेमीजन अपने को निर्विकारता के अभिमान से रहित कर नित-नव प्रियता के लिए सदैव आकुल रहते हैं। प्रियता की व्याकुलता में लेशमात्र भी नीरसता नहीं है। कारण कि, प्रियता की उत्कट लालसा में रस-ही-रस है। प्रियता से कभी-भी निराश नहीं होना है, अपितु प्रियता के लिए नित-नव-उत्कट लालसा जगाना है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता ही मानव की निज-सम्पत्ति है। आत्मीयता में ही अनुपम माधुर्य है, जो प्रेमास्पद को अत्यन्त प्रिय है। किन्तु निष्कामता के बिना आत्मीयता सजीव नहीं होती।

निष्कामता मानव-जीवन का ऐश्वर्य है। निष्काम होने पर मानव विश्व-विजयी स्वतः हो जाता है, जो एकमात्र निर्ममता से ही साध्य है। मिला हुआ अपना नहीं है—भला, यह किसे विदित नहीं है? अर्थात् इस वास्तविकता से सभी परिचित हैं। किन्तु जाने हुए के अनादर से मानव ममता में आबद्ध हो, अनेक दोषों को उत्पन्न कर लेता है। जाने हुए के प्रभाव से ही निर्ममता प्राप्त होती है, जो विकास का मूल है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१५८

पटना

८-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

जब प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है, तब सभी परिस्थितियों में मानव स्वाधीनतापूर्वक साधन-निष्ठ हो सकता है। फिर न जाने क्यों बेचारा मानव अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करने लगता है? परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि ही भूल है। साधन-सामग्री को जीवन मान लेना सत् से विमुख होना है। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग से साधक साधन-निष्ठ हो सकता है। साधन-निष्ठ होने में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग हेतु है, परिस्थिति नहीं। साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। पर यह रहस्य वे

ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साधन-तत्व से अभिन्न होना ही जीवन का लक्ष्य अनुभव किया है। कारण कि, साधन-तत्व ही तो साधक का वास्तविक अस्तित्व है, जो एकमात्र साधन-निष्ठ होने से ही साध्य है। साधन-निष्ठ होने के लिए उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। बस इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्संग की परम आवश्यकता है। सत्संग के बिना किसी भी प्रकार से चैन से रहना भारी भूल है।

सत्संग के लिए सब कुछ दिया जा सकता है और किसी भी भय तथा प्रलोभन के कारण सत्संग का त्याग साधक को नहीं करना है। जब तक साधक सत्संग को जीवन का परम पुरुषार्थ नहीं मानता, तभी तक सत्संग के बिना रह सकता है, जो वास्तव में विनाश का मूल है। सत्संग में ही जीवन है और मानव-जीवन सत्संग के लिए ही मिला है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से साध्य है। सत्संग श्रम-साध्य प्रयास नहीं है, अपितु विचार तथा विश्वास से ही साध्य है। इसी कारण प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है।

श्रमयुक्त प्रयास सभी परिस्थितियों में तथा सभी के लिए समान रूप से सम्भव नहीं है। किन्तु जिसकी उपलब्धि विचार तथा विश्वास से है, वह सभी परिस्थितियों में सभी के लिए सुलभ है। कारण कि, प्रत्येक साधक में विचार तथा आस्था की सामर्थ्य विद्यमान है, अर्थात् विचार तथा विश्वास किसी-न-किसी अंश में मानवमात्र को मिला है। अतः सत्संग में सभी स्वाधीन हैं—केवल उसकी भूख होनी चाहिए।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१५६

पटना
६-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो !

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। तुमने बड़े ही सुन्दर ढंग से एक ही वाक्य में अपनी दशा का चित्रण किया है – "शान्त हूँ, प्रसन्न नहीं।" दूरी, भेद तथा भिन्नता में एकमात्र अहंकृति का सुख ही मुख्य हेतु है। जिसे श्रम-साध्य सुख अपेक्षित नहीं है, वह साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक दूरी तथा भेद से रहित हो जाता है। यह विचारशीलों का अनुभव है। क्या तुम यह नहीं जानतीं कि दूरी तथा भेद भासित होने पर भी एकमात्र वे ही अपने हैं और उन्हीं का स्वतन्त्र अस्तित्व है ? इतना ही नहीं, यह सब कुछ उन्हीं की अभिव्यक्ति है, अर्थात् उन्हीं की सत्ता से सभी सत्ता पाते हैं। तो फिर स्वरूप से दूरी तथा भेद हो ही नहीं सकता; केवल काल्पनिक ही दूरी तथा भेद है, जो आत्मीयता से जागृत प्रियता से ही स्वतः नाश हो जाता है।

प्रियता से अभिन्न हुए बिना दूरी तथा भेद का अन्त सम्भव नहीं है। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है। तो फिर दूरी तथा भेद का अन्त क्यों न होगा ? अर्थात् अवश्य होगा। निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता निर्ममता के ही विकसित रूप हैं। इस दृष्टि से जो कुछ मिला है वह न तो अपना ही है और न ही अपने लिए। क्या यह तुम्हारा अपना अनुभव नहीं है ?

यदि है, तो ममता नहीं है। निर्मम होते ही निर्विकारता स्वतः आयेगी, जिसके आते ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। उसमें रमण न करने से स्वाधीनता मिलती है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने से अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर वे अपनी प्रियता प्रदान करते हैं। यह मंगलमय विधान क्या तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारे प्रसन्न न रहने से उन्हें अच्छा नहीं लगेगा ? तुम कहोगी, फिर वे क्यों नहीं अपनी प्रियता प्रदान कर देते ? बात ठीक है, पर क्या उदार माँ भूख के बिना भोजन दे पाती है ? तुम कहोगी कि वे क्यों नहीं भूख लगा देते ? क्या प्रतिकूलता सुख की दासता मिटाने में हेतु नहीं है ? क्या प्रतिकूलता न चाहने पर भी अपने आप नहीं आती है ? प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि में नहीं जल रहा है ? यदि ऐसा है तो संयोग में ही वियोग का अनुभव क्यों नहीं करतीं ?

नित्ययोग की अभिव्यक्ति संयोग में ही वियोग का दर्शन करने से होती है। तुम कहोगी, सब कुछ ठीक है, पर मुझसे ऐसा नहीं होता। न होने की वेदना में क्या होने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध नहीं है, अर्थात् अवश्य है। किसी भी दृष्टि से निराश होना नहीं चाहिए, अपितु उत्तरोत्तर उत्कण्ठा तथा उत्साह-पूर्वक नित-नव आशा को जगाना है। वे सदैव तुम्हारे अपने हैं और तुम सदैव उन्हीं की हो। अतः उन्हीं की प्रियता होकर उन्हें नित-नव रस प्रदान करो। अपने लिए ही उन्होंने तुम्हारा निर्माण किया है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। तुम कभी मत सोचो कि तुम उनकी नित्य-प्रिया नहीं हो और वे तुम्हारे प्रियतम नहीं हैं। वे तुम्हें प्रियता प्रदान करें, तुम उन्हें रस प्रदान करो, यही मेरी सद्भावना है। प्रीति और प्रीतम के

नित्य-विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

१६०

पटना

११-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक दशा में त्याग तथा प्रेम की गंगा लहराती रहे !

जिसका कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही सुगमता-पूर्वक उन्हें अपना मान पाता है, जिन्हें वह नहीं जानता है। जाना हुआ जो कुछ है, उनका है। इतना ही नहीं, वे उसमें हैं। इस कारण उनके नाते सभी प्यारे हैं। ज्यों-ज्यों प्रीति का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जायगा, त्यों-त्यों उससे भिन्न जो कुछ है, उससे असंगता स्वतः होती जायगी। असंगता साधक को चिन्मय-साधन में प्रवेश कराके स्वतः मिट जाती है और केवल आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता शेष रहती है। प्रीति ने प्रियतम से भिन्न को देखा ही नहीं। इस कारण प्रीति की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है। प्रीति में ही प्रीतम की नित्य

अभिव्यक्ति है और प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। प्रीति और प्रीतम का नित्य-विहार ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो ! पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१६१

पटना
१४-१२-६१

दैहातीत दिव्य ज्योति साधननिष्ठ प्रिय बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

"है" में प्रियता होते ही "नहीं" की आसक्ति मिट जाती है, और मिले हुए से असंगता होती है। जिसके होते ही "है" से अभिन्नता हो जाती है। "है" की अभिन्नता में ही अगाध प्रियता निहित है, जो वास्तविक जीवन है। प्रत्येक दशा में वास्तविकता के लिए आकुल तथा प्रयत्नशील रहना है। सफलता अनिवार्य है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार ! मेरी सद्भावना सदैव सभी साधकों के साथ है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१६२

भागलपुर
१८-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा साधननिष्ठ प्रिय बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो !

सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। कारण कि, सत्संग से ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। अचाह तथा अप्रयत्न एवं अभिन्नता सत्संग का वास्तविक स्वरूप है। अचाह तथा अप्रयत्न होते ही अभिन्नता स्वतः आ जाती है। अभिन्नता से ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, यह मंगलमय विधान है। स्नेहमयी दुलारी बेटी की चिकित्सा तो करानी ही है। अध्ययन का श्रम, रोगी शरीर, भला, लड़की से कैसे गाड़ी चलेगी ! हाँ, यदि तप समझकर प्राकृतिक चिकित्सा का आहार-विहार बनाये, तो बिना औषधि के भी ठीक हो सकती है।

स्वास्थ्य के लिए श्रम, संयम दोनों ही आवश्यक हैं। किन्तु संयम उत्साह तथा सहर्ष हो। जिस कार्य में कर्ता को रस मिलता है, उसका प्रभाव शरीर के लिए उपयोगी होता है। ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुमान है। निश्चिन्तता, निर्भयता तथा प्रियता में ही वास्तविक जीवन है।

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो ! पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१६३

मुंगेर
१५-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा साधननिष्ठ दुलारी बेटी,
सस्नेह अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार !

मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है कि जीवन में निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति हो। चिन्ता, भय तथा नीरसता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। निर्ममता तथा निष्कामता एवं असंगता के बिना निश्चिन्तता नहीं आती और निश्चिन्त हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह मंगलमय विधान है। ममता, कामना तथा तादात्म्य का नाश करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है। कारण कि, ये तीनों निर्बलताएँ भूल-जनित हैं, प्राकृतिक नहीं। भूल-जनित दोषों की निवृत्ति जाने हुए असत् के त्याग से ही होती है, जिसके करने में मानवमात्र स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव को उसके निर्माता ने स्वतः प्रदान की है।

इस दृष्टि से भूल का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा सुलभ है। किन्तु जब तक मानव प्रमादवश भूल-जनित सुख-लोलुपता को अपनाता है, भूल का मिटाना दुर्लभ प्रतीत होता है। भूल-जनित वेदना भूल-जनित सुख-लोलुपता के नाश में हेतु है। सुख-लोलुपता का अन्त होते ही भूल स्वतः नाश हो जाती है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता, परमशान्ति और स्वाधीनता से अभिन्न होकर अगाध प्रियता का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् जिसका कुछ भी नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक आस्था,

श्रद्धा, विश्वास के द्वारा आत्मीयता स्वीकार करने में समर्थ होता है।

यह सभी को विदित है कि आत्मीयता में अगाध प्रियता है, जो वास्तविक जीवन है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि उनकी दी हुई वस्तुओं को अपनी मानते हैं और उन्हें अपना नहीं मानते। यह जानते हुए भी कि कामना-पूर्ति में पराधीनता तथा अभाव है, फिर भी निष्काम होने में हिचकिचाते हैं। निर्मम तथा निष्काम हुए बिना असंगता सम्भव नहीं है। असंगता के बिना समता तथा चिन्मय-साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो सर्वतोमुखी विकास में हेतु है।

अल्प-सामर्थ्य होने पर अल्प-साधन से सिद्धि मिलती है। यह कैसा अनुपम मंगलमय विधान है ! अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होते ही असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वतः हो जाता है और फिर अपने-आप असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। जाने हुए का अनादर करने से ही मानव की दुर्दशा हुई है। अतः प्रत्येक साधक को जाने हुए का आदर करना अनिवार्य है। सुने हुए में आस्था, जाने हुए का आदर एवं मिले हुए का सदुपयोग करने से सभी को सब कुछ मिलता है। यह मंगलमय विधान है।

इस दृष्टि से जाने हुए का अनादर, सुने हुए में अश्रद्धा और मिले हुए का दुरुपयोग ही विनाश का मूल है, जिसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

तुम्हारा

.....

१६४

गाजीपुर
७-१-६२

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

शान्ति का सम्पादन होने से विस्मृति स्वतः नाश हो जाती है, जिसके होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है। असत् का त्याग तथा सत् का संग युगपद् है। ज्ञान असत् का ही होता है, और संग सत् का होता है। सत् असत् का प्रकाशक है, और असत् का ज्ञान असत् का नाशक है। अतः असत् के ज्ञान से ही असत् की निवृत्ति होती है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ओ३म् आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!! ❁

तुम्हारा

.....

१६५

बांकुड़ा
१६-१-६२

सभी अवस्थाओं से अतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो !

ममता तथा कामना से रहित हुए बिना न तो प्राप्त का सदुपयोग ही हो सकता है और न प्रेमास्पद की आत्मीयता ही सजीव होती है। निज-विवेक का आदर करते हुए दृढ़ता-पूर्वक ममता तथा कामना का त्याग कर देना है, जिसके करते ही मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा, और अपने में प्रेमास्पद की आत्मीयता से भिन्न कुछ नहीं रहेगा। उनकी आत्मीयता ही तो अपना जीवन है। आत्मीयता स्वतः प्रियता में परिणत होती है। यह मंगलमय विधान है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उनकी नित्य-प्रिया हो। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्रीति की माँग ही अपनी माँग है। सभी प्रवृत्ति पूजा है। पूजा का अन्त स्वतः प्रीति में होता है। कारण कि, क्रिया भाव में, भाव आत्मीयता में और आत्मीयता प्रियता में विलीन होती है। भला, 'अपने' अपने को प्रिय न लगेंगे ? क्या उनकी प्रियता से भिन्न भी कोई जीवन है ? कदापि नहीं।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उन्हीं की वस्तु हैं। उनके द्वारा विश्वरूप प्रभु की सेवा करना है, और अपने द्वारा उन्हें रस प्रदान करना है, जो एकमात्र आत्मीयता से जागृत प्रियता से ही साध्य है। प्रतिपल प्रियता की भूख बढ़ती रहे, अथवा

प्रियता की ही माँग रह जाय। 'करने' और 'होने' से असहयोग हो जाय। कारण कि, करने की रुचि देह से तादात्म्य उत्पन्न करती है। इस कारण अचाह, अप्रयत्न तथा आत्मीयता ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। उनकी महिमा में अविचल आस्था और अपनी असमर्थता का अनुभव युगपद् है।

साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, अपितु नित-नव आशा का संचार ही विकास का मूल है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्-भावना है। उनकी दी हुई प्रियता ही उनके लिए उपयोगी होती है। अतः प्रियता की माँग ही अपनी माँग है और उसी में जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१६६

श्रीवृन्दावन

२०-२-६२

चिन्मय धाम विहारिणी प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु विश्व की सेवा तथा प्रभु की प्रीति हो। यद्यपि यह मानव-मात्र की बात है, परन्तु वे ही साधक यह रहस्य जान पाते हैं, जिन्होंने वर्तमान सभी का निर्दोष है—इसमें अविचल आस्था की है और जो सब

प्रकार से उन्हीं के होकर रहते हैं, जो सभी के अपने हैं। इतना ही नहीं, आत्मीयता ही जिनका जीवन है, जिन्होंने विवेकपूर्वक ममता तथा कामना का सदा के लिए अन्त कर दिया है। जिनकी महिमा का पारावार नहीं है, वे ही तो सभी के अपने हैं। उनकी आत्मीयता पाकर क्या कुछ और पाना शेष रहता है ? अपने होने से वे अपने को स्वभाव से ही प्रिय हैं। उनकी प्रियता ही मानव का जीवन है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

प्रीति-निर्मित दृष्टि से ही अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो। अनेक भाव से उन्हीं के साथ खेलो। उनसे भिन्न की सत्ता ही नहीं है। सर्व-रूप वे ही हैं। प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति में ही प्रियतम का नित्य वास है और प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

तुम्हारा

.....

१६७

हरिद्वार
२९-२-६२

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

शरीर सेवा-निधि है। उसकी रक्षा करना पूजा है, पर उसकी ममता भूल है। अतः निर्मम होकर प्रत्येक कार्य को

विधिवत् करने का स्वभाव बनालो। यही सफलता की कुञ्जी है।

क्या तुम यह नहीं जानतीं कि मीठापन सभी मिठाइयों में चीनी का है, मिठाइयों का नहीं ? उसी प्रकार जिस किसी में जो कुछ विशेषता है वह प्यारे प्रभु की ही है, जो तुम्हारे अपने हैं और तुम उनकी प्रीति हो।

प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। अतः प्रीति से अभिन्न होकर प्रियतम के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग वास्तविक सेवा है। आगे-पीछे का चिन्तन व्यर्थ है। वर्तमान का सदुपयोग ही मूल मंत्र है। जो मिला है उसका सदुपयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ—बस, यही सफलता की कुञ्जी है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

१६८

हरिद्वार
७-४-६२

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

शरीर अनेक व्याधियों का घर ही है। इसी कारण विचार-शील मानव निर्ममता, निष्कामता एवं अहंकृति-रहित होकर

शरीर से असंग हो निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छन्नता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाते हैं। शरीर विश्व-रूपी सागर की लहर है, उसे विश्व के ही समर्पित करना है। तभी शरीर से छुटकारा मिलता है।

जो अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, उसकी आवश्यकता अनुभव करना ही वास्तव में प्रमाद है। उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है।

वास्तव में तो परिस्थितियों का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्रत्येक दशा में नित-नव उत्साह बढ़ता रहे। आस्तिक के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, समस्त विश्व में अपने प्यारे की ही अनुपम लीला है, अर्थात् आस्तिक की दृष्टि में जगत् अपने प्यारे का प्यारा है, पर अपना नहीं है। इसी कारण आस्तिक का जीवन नित-नव प्यार से भरपूर रहता है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

.....

१६९

हरिद्वार

१४-४-६२

दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

जो वर्त्तमान पूजा मिली है, उसे यथाशक्ति करती रहो। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन निकाल दो। जब जहाँ रहना होगा, वही ठीक होगा। गंगा-तट की दृष्टि से तो हरिद्वार, ऋषिकेश-स्वर्गाश्रम आदि स्थान ही ठीक हैं।

वास्तव में तो कार्यक्रम निश्चित ही है। पर उसका अनुभव उन्हीं साधकों को होता है, जिनका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। अतः अपना संकल्प न रख कर जो हो, वही ठीक है। वर्त्तमान का सदुपयोग करो और सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो, जिनकी तुम प्रीति हो। बस, यही मानव का पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

१७०

ऋषिकेश
१४-४-६२

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

अब रही शारीरिक परिश्रम की बात—कम-से कम एक सप्ताह के लिए मानव को नौकरों की दासता से मुक्त रहना चाहिये, अर्थात् मानव सेवा संघ के आठवें नियम के अनुसार कुछ क्रियात्मक-रूप रखना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी को वह करना चाहिए, जिसे वह नहीं कर सकता। परन्तु कुछ लोग अर्थ के अधीन श्रम का अनादर कर रहे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज कार्यकुशलता दिन पर दिन घटती जा रही है। लोग काम करने को अच्छा नहीं मानते। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ कि अर्थ का महत्व बढ़ गया है, जिसने मानव-समाज में संग्रह की रुचि उत्पन्न कर दी है। संग्रह अभिमान तथा विलास को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है। सभी साधक मिलकर कार्य करें, मिल कर रहें और परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जीवन की समस्याओं को हल करें।

प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति निहित है। इस विधान में अविचल आस्था रखने से कर्तव्य भार नहीं होता, अपितु सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है। पर इस विधान में आस्था तो सभी साधक कर सकते हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है। इसी ध्रुव सत्य के कारण जो हो रहा है, वही ठीक है। जिससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है, उसी में जीवन है। यह अनुभव मानव को सभी परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर देता है। प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता से अभिन्न हो सकता है। यह मानव के रचयिता की अहैतुकी कृपालुता है। न जाने मानव उन्हें इतना प्रिय क्यों है ! जहाँ रहो प्रसन्न रहो ! जो करो वह ठीक करो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

१७१

ऋषिकेश
५-५-६२

दैहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो सदा आनन्द में रहो !

स्वावलम्बन मनन में बाधक नहीं होगा। कारण कि, श्रम का समय उतना ही होगा जितना साधक सुविधापूर्वक कर सकेगा। मनन जब जागृत होता है, तब हाथ काम में और दिल राम में रहने लगता है। क्रिया समष्टि शक्तियों से हो

रही है, भाव साधक का अपना है—उसी से क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है।

प्रत्येक घटना में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो और मूक होकर उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो। वे अपना दिया हुआ पाकर ही मोहित होते हैं। भला, उन्हीं का दिया हुआ उन्हें देकर प्रसन्न करना भी किसे अभीष्ट न होगा! तुम किसी भी काल में उनकी प्रीति से भिन्न कुछ नहीं हो। प्रीति में ही प्रीतम का नित्य-वास है और प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। मानव अपनी भूल से ही प्रीतम से विमुख हो गया है, और कुछ नहीं।

भूल को भूल जानते ही भूल सदा के लिए मिट जाती है। अतः जीवन में चिन्ता तथा भय एवं निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ओ३म् आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

.....

१७२

श्रीवृन्दावन
५-८-६२

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करना है। समस्त निर्बलताएं भूल-जनित और गुण प्राकृतिक हैं। इस तथ्य में अविचल आस्था करना है। सत्संग से ही एक-मात्र भूल नाश होती है, जो मानव-मात्र के लिए सहज तथा स्वाभाविक है।

निज-अनुभव के आदर एवं निर्विकल्प आस्था में ही सत्संग निहित है। भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर उन्हें भूल जाना है। वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था कर निश्चिन्त तथा निर्भय रहना है। वर्तमान कार्य सर्व-उत्कृष्ट कार्य है। इतना ही नहीं, आस्तिक की पूजा है, विवेकी का साधन है और भौतिकवादी की कर्तव्यपरायणता है। जो नहीं कर सकते, उसे नहीं करना है। पर जो नहीं करना चाहिए, उसका सर्वांश में नाश होने पर, जो करना चाहिए उसके करने की सामर्थ्य स्वतः आती है।

क्या नहीं करना है ? सुख की आशा, दुःख का भय, किसी के प्रति भी राग तथा द्वेष न हो। सभी से असंगता अथवा सभी में आत्मीयता सुरक्षित रखना है। यद्यपि सुख की आशा के लिए कोई अपना नहीं है, पर किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं। जिसके नाते सभी अपने हैं, वे अपने होने से अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। उनकी प्रियता में ही जीवन है।

और उन्हीं के नाते सभी प्यारे हैं। सभी को आदर देना है। कटुता के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं है। द्वेष तथा क्रोध की गन्ध भी न हो, तभी चित्त शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ होता है।

जो अभिनय मिला है, करती रहो। उसे देख मालिक प्रसन्न होगा, अपनायेगा। उसका दिया हुआ अभिनय मंगलमय है। मानव सदैव उनकी प्रीति और उन्हें मानव अत्यन्त प्यारा है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। उन्हें मानव प्यारा है, वे मानव को प्यारे हैं। इस रहस्य के स्पष्ट होने में ही वास्तविक जीवन निहित है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो ! जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१७३

श्रीवृन्दावन
१५-८-६२

अवस्थातीत अनन्त की अगाध प्रियता दुलारी बेटी,

प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अनेक रूपों में अपने ही प्रेमास्पद की पूजा करते हुए सर्वदा प्रियता होकर उन्हीं को रस प्रदान करती रहो—यही मेरी सद्भावना है।

किसी के प्रति की हुई सद्भावना कभी नाश नहीं होती। तुम्हारी सद्भावना कभी-न-कभी मूर्तिमान होकर अभिव्यक्त

होगी। कारण कि, सद्भावना ही वास्तविक सेवा है। किसी की असफलता अपनी असफलता के समान पीड़ित करे, इसी में पर-हित निहित है।

अचेतन मन में प्राप्त गुणों का भोग अहं की पूजा, लोकरंजन तथा आत्मख्याति के रूप में छिपा रहता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही साधक जान पाते हैं। प्रियता से क्रिया कम हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सजगता आ जाती है। क्रिया का वेग प्रियता में शिथिलता उत्पन्न करता है। क्रिया की न्यूनता हृदय में क्रिया के प्रभाव को स्वीकार नहीं होने देती। उसी दशा में यह भास होने लगता है कि ऊपरी क्रियात्मक सेवा एक प्रकार का तिरस्कार है। हृदय प्रीति का पुजारी है। प्रीति भेद और भिन्नता की नाशक है। स्थूल शरीर की दृष्टि से क्रियात्मक-सेवा भले ही सुखद प्रतीत होती हो, किन्तु मानव की वास्तविक मांग तो प्रियता ही है, जो एकमात्र गुणों के अभिमान से रहित होने पर ही जागृत होती है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से गुणों के अभिमान का अपहरण कर अपनी आत्मीयता प्रदान करें—यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१७४

जयपुर
२०-८-६२

सभी अवस्थाओं से अतीत प्रीतिस्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। चिर-विश्राम, स्वाधीनता और प्रियता में ही रस का स्रोत है—इसमें स्वरूप-भेद नहीं है। जिसका कोई अपना है, उसमें नीरसता के लिए कोई स्थान ही नहीं है तथा निश्चिन्तता एवं निर्भयता भी स्वतः सिद्ध हैं। इन तीनों में विभाजन नहीं हो सकता। रस की भूख किस श्रेणी की है, उसी के आधार पर विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रियता का रस है। इनमें-से किसी की भी अभिव्यक्ति हो जाने पर सभी स्वतः आ जाते हैं। न जानते हुए भी जो मानवमात्र का अपना है और जानी हुई कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, इन दोनों ही निष्ठाओं से स्वतः रस की अभिव्यक्ति होती है। पर साधक में नित-नव रस की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

माँग की जागृति शान्ति को भंग नहीं करती, अपितु शान्ति में रमण भी नहीं करने देती। मांग की जागृति मात्र से ही निर्ममता एवं निष्कामता पुष्ट होती है, जो एकमात्र निर्विकारता एवं परम शान्ति की जननी है। जो अपने हैं ही, भला, वे कभी अपने को भूल पाते हैं! उनमें भूल की गन्ध भी नहीं है। किन्तु उनके दिये हुए सीमित सौन्दर्य को पाकर साधक ही उन्हें भूलता है। पर प्रतिकूलता के रूप में अभिव्यक्त होकर वे साधक की भूल को स्वयं खोलते हैं।

जिनकी महिमा तथा कृपालुता का पारावार नहीं है, वे ही तो अपने हैं। उनकी आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता में ही तो जीवन है। वे तुम्हारे हैं, तुम सदैव उन्हीं की हो—इसमें विकल्प के लिए कोई स्थान ही नहीं है। उनकी होकर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। उनके हो जाने में ही तुम्हारे प्रयास की परावधि है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो ! जो करो ठीक करो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार ! जो तुम्हारे हैं वे तुम्हें उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

तुम्हारा

.....

१७५

बलिया

२४-११-६२

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति हो, विश्व की सेवा करती रहो ! प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है और सेवा उसी का क्रियात्मक रूप है। तुम्हें अपने लिए कुछ नहीं करना है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य की पूर्णता है। मानव-समाज में सोई हुई मानवता जग जाय, इसीलिए सब कुछ करना है। भयभीत तथा चिन्तित होने से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं हो सकता। अतः विचारपूर्वक भय तथा चिन्ता से दूर होना अनिवार्य है। परिस्थिति के सदुपयोग की

कला आ जाने पर प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग सुगमतापूर्वक हो सकता है। सुख में सजग और दुःख में अभय रहना अनिवार्य है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था रखो। इतना ही नहीं, प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग की सामर्थ्य देकर ही मानव को उसके रचयिता ने भेजा है। अतः तुम वह अवश्य कर सकती हो, जो तुम्हें करना है। तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है, इस कारण प्रतिकूलताओं को देख अधीर हो जाती हो। प्रत्येक घटना में अपने प्यारे को देखो। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं।

हिन्दुस्तानी लोग छोटे-छोटे सुख में फँसकर भारत माँ की सेवा भूल गये और चीनी लोग मिथ्या अभिमान में आबद्ध हो गये हैं। दोनों देशों के हित के लिए ही यह प्रतिकूलता आई है। जो सजग हो जायेंगे, वे सफल हो जायेंगे। मानव-समाज की दुर्दशा का कारण उसकी अपनी ही भूल है, जो एकमात्र सत्संग से ही मिट सकती है। सत्संग में ही मानव का अधिकार है। तुम्हें जो कार्य मिला है, उसे पवित्र भाव से करती रहो। सफलता अनिवार्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो। तुम अकेली नहीं हो, तुम्हारा प्रेमास्पद सदैव तुम्हारे साथ है। सब ओर से विमुख होकर उसे देख लिया करो। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! ❁

तुम्हारा

.....

१७६

आगरा

५-१२-६२

सभी अवस्थाओं से अतीत प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

सर्वदा अनन्त को लाड़ लड़ाती हुई रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा नित्य-सम्बन्ध जिससे है, वह सदैव-सर्वत्र तुम्हारे साथ है। तुम-उन्हीं की प्रीति हो। देह से तुम्हारी मानी हुई एकता है, जो एकमात्र अविचार से ही उत्पन्न हुई है। तुम विचारपूर्वक उस मानी हुई एकता का अन्त कर, जिससे तुम्हारी जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है उन्हीं की आत्मीयता को अपना कर अगाध प्रियता को जगा दो। बस, यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। इसके सदुपयोग में ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो। प्रवृत्ति में सेवा एवं निवृत्ति में प्रीति ही तुम्हारा जीवन है। इसके लिए नित-नव आशा का संचार होता रहे। सफलता अनिवार्य है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!! ❁

तुम्हारा

.....

१७७

श्रीवृन्दावन
१९-१२-६२

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने में ही 'अपने' को पाकर लाड़ लड़ाती रहो, यही मानव-जीवन की पूर्णता है।

मानव की व्यक्तिगत मांग चिन्ता, भय तथा नीरसता से रहित होना है, जिसकी उपलब्धि एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। जो अपना है, वह सदैव अपना है और अपने में ही है। उससे देश-काल की दूरी नहीं है। उसकी विस्मृति असत्य के संग से हुई है, जो प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु अपनी ही भूल है। जो कभी-भी अपना नहीं है, उसे अपना मान बैठना और जो सदैव अपना है, उसमें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार न करना, क्या अपनी भूल नहीं है? इस भूल का अन्त प्रत्येक मानव को प्रत्येक परिस्थिति में करना है। बस, यही सत्संग है, जिसकी स्वाधीनता मानव के रचयिता ने उसे जन्मजात् प्रदान की है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो। जो सदैव अपने ही हैं, अपने में ही हैं, उनकी आत्मीयता में ही जीवन है। अपने ही द्वारा तुम अपने को अपने में पाओ और उन्हीं की प्रीति हो जाओ, यही मेरी सद्-भावना है। सभी को सप्रेम यथोचित।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

.....

१७८

प्रयाग

१९-१-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्-भावना है।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। समाचार विदित हुआ। प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की अनुपम लीला का दर्शन करना है और प्रत्येक वर्तमान कार्य से उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से विश्वरूप में उन्हीं की पूजा करनी है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप उन्हीं की दिव्य प्रीति है। प्रीति से भिन्न तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। तुम सदैव उनकी, और वे तुम्हारे हैं। यह ध्रुव सत्य है।

मानव भूल से अपने को देह मान लेता है। वास्तव में तो उसके रचयिता ने प्रीति देकर ही मानव का निर्माण किया है। प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा और विवेकात्मक रूप त्याग है, अर्थात् प्रीति ही सेवा तथा त्याग के रूप में परिणत होती है। इसी कारण मानव सेवा, त्याग एवं प्रेम का पुंज है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न करो। सभी में सर्वत्र सर्वदा तुम्हारे प्रीतम ही ओत-प्रोत हैं। तुम प्रीति से अभिन्न होकर ही उन्हें अपने में पाओगी। उनकी मधुर स्मृति में ही तुम्हारा सर्वतोमुखी विकास निहित है। प्रत्येक दशा में अखण्ड स्मृति होती रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब तुम अपने को

उनकी प्रीति स्वीकार करो। होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा है। निवृत्ति में स्वतः स्मृति सबल होती है। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।

प्रीति से कभी-भी निराश नहीं होना है, अपितु नित-नव उत्कण्ठा बढ़ती रहनी चाहिए। विस्मृति स्मृति से ही नाश होती है, किसी अभ्यास-विशेष से नहीं। प्रीति और प्रियतम में जातीय तथा स्वरूप की एकता एवं नित्य-सम्बन्ध है। अपने होने से ही वे अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। यही प्रीति की जागृति का मूल मंत्र है। नित-नव आशा प्रीति की भूख को तीव्र बनाती है। प्रीति-निर्मित दृष्टि से प्रतिपल प्रियतम की अनुपम छटा नित-नई भासित होती है। प्रीति ही में जीवन है। यद्यपि वे सभी के अपने हैं,पर यह अनुभव कि 'वे' अपने हैं,प्रीति ही से सिद्ध होता है। प्रेमियों ने ही उन्हें अपना करके स्वीकार किया है। प्रेमियों की सद्भावना सदैव सभी प्रेमियों के साथ है। अतः तुम उन्हीं की नित-नव प्रीति हो—यह निर्विवाद सत्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो ! जो करो ठोक करो।

यह तुम्हें ज्ञात ही है कि साधक के प्रति जगत की उदारता, सत्पुरुषों की सद्भावना एवं अनन्त की कृपालुता सदैव रहती है। अतः साधकों के सभी आवश्यक संकल्प पूरे होकर नाश हो जाते हैं, और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होते। यदि किसी अनावश्यक संकल्प की प्रतीति हो,तो समझना चाहिए कि उत्पन्न हुआ निकल रहा है, नवीन उत्पन्न नहीं हो रहा है। उनके नाते प्रत्येक कार्य साधन तथा भजन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार ! निकटवर्ती प्रियजनों को यथोचित।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

१७६

देहरादून
९-४-६३

देहातीत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,
जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

यहाँ आने पर पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यात्रा की घटना का समाचार जान, यह भास हुआ कि उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। प्रत्येक कार्य में सजगता अनिवार्य है।

तुमने सुना ही होगा कि एक बार प्यारे श्यामसुन्दर ने अपनी मैया को सिखाने के लिए अपने ही द्वारा अपनी सेवा-सामग्री तोड़-फोड़ डाली, दूध-दही बिखरा दिया, जिसे देख वात्सल्य स्नेह से निर्मित श्री नन्दरानी जी क्षोभित हो गईं और अपने प्राणप्यारे दुलारे लाला को दण्ड देने के लिए तत्पर हो गईं।

अपने प्रिय की सेवा-सामग्री कभी-कभी प्रिय से भी प्यारी लगती है, यह मानव-स्वभाव है। किन्तु प्यारे को तो अपनी प्रियता ही सबसे अधिक भाती है। उसके जगाने के लिए ही वे अपनी अनुपम लीला करते हैं।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। उनकी लीला को देखो, मधुर स्मृति जगेगी—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पुनः सद्भावना-सहित बहुत-बहुत प्यार !
ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

१८०

श्रीवृन्दावन

४–८–६३

सेवा तथा प्रीति की मूर्ति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

जिसमें रोग दिखाई देता है, उसपर उन्हीं की सील लगाकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वस्तु पर उन्हीं का अधिकार है। वे अपनी वस्तु को सदैव देखते रहते हैं। उन्होंने कभी-भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं किया। उनकी दृष्टि सदैव तुम्हीं पर लगी रहती है। तुम भले ही उन्हें देख नहीं पातीं, पर वे तो तुमको सदैव देखते ही रहते हैं। तुम जिसे देखती हो वह सब उनका खेल है और तुम उनकी खिलौना हो। वे जैसा खेल खिलायें, खेलती रहो। उनकी दी हुई प्रीति ही उनके काम आयेगी।

जब तुम अपनी ओर देखोगी तो अपने में उनका दिया हुआ प्रेम पाओगी। उसी से उनकी पूजा करो। जब वे अपने निर्मित साधक में अपना सब कुछ पाते हैं, तब उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता होती है। और फिर प्रेम देकर, दिये हुए प्रेम द्वारा ही, नित-नव रस का पान करते हैं। तुम उनकी भोग-सामग्री हो और वे हैं—भोक्ता।

साधक भले ही उन्हें भूल जाय, पर वे नहीं भूलते। तुम उस बहुरूपिया को अनेक रूपों में देखा करो। जब तुम सभी में सदैव उन्हीं को देखोगी, तब वे स्वयं अभिव्यक्त होकर तुम्हारी माँग पूरी कर तुम्हें सब प्रकार से लाड़ लड़ायेंगे। मानसिक रोग उनके न पहचानने से ही रहता है। उनके अतिरिक्त किसी

और की स्वीकृति सदा के लिए निकाल दो। अपने में उन्हीं की स्थापना कर अपने को अर्पित कर दो।

एक बात अवश्य है, जो करना चाहिए उसके करने पर अपनी असमर्थता का अनुभव कर, साधक परम व्याकुल होता है। वह व्याकुलता उसे साध्य से अभिन्न करती है, अर्थात् दूरी, भेद, भिन्नता का अन्त हो जाता है। परम व्याकुलता ही अन्तिम दरवाजा है, जो असमर्थता अनुभव करने पर स्वतः खुल जाता है। सचमुच, कुछ कहने-सुनने की बात नहीं है। जिसकी जो वस्तुएँ हैं, उन्हें वह देखता ही है, सँभालता ही है। इतना ही नहीं, वे तो सदैव सभी को अपना ही जानते हैं। कारण कि, सब कुछ उन्हीं से निर्मित है। अपनी रचना से क्या रचयिता अपरिचित होता है? कदापि नहीं। उनकी दी हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करना है, अपितु सब प्रकार से उन्हीं का खिलौना होकर रहना है। वे अपने खिलौना से खेलें, यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। उनकी लीला देखकर मधुर स्मृति जगेगी। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पुनः सद्भावना-सहित, बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

१८१

अजमेर
१७-८-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

यह वैधानिक तथ्य है कि जो जिसका होता है, वह उसे स्वभाव से ही प्रिय होता है। अतएव हम सब जिसके हैं उसे हम सभी स्वभाव से प्रिय हैं। इस दृष्टि से तुम उन्हें अत्यन्त प्रिय हो। उनकी दी हुई प्रियता से उन्हें लाड़ लड़ाती रहो। यही इस जीवन की सार्थकता है। प्यार मिलने पर भी वे उतने प्यारे नहीं लगते जितना लगना चाहिये, यही तो शरणागत की गहरी व्यथा है ! रोम-रोम से निरन्तर यही माँग रहे—"प्रेमास्पद ! अपना प्यार दो।"

बाह्य रूप से जो कुछ मिला है वह सेवा-सामग्री है। उसका सद्व्यय होता रहे और उनकी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तभी इस जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने ही में-से मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हें कितना प्यारा है, उसकी गणना सम्भव नहीं है। उनका प्रेम निरन्तर बरस रहा है—उनके प्रेम का पारावार नहीं है। प्रेमदाता प्रेम देकर प्रेमी बना रहे हैं। प्रेमी होकर प्रेमी बनाना ही उनका स्वभाव है। प्रेमास्पद ही वास्तव में प्रेमी हैं।

पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब शरणागत उनकी महिमा में अविचल आस्था और अपनी निर्बलता का परिचय पाता है। उन्होंने विवेकरूपी प्रकाश तथा बुद्धिरूपी दृष्टि देकर भूल का परिचय तथा भूल-रहित होने का अवसर दिया, जिससे निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन से

अभिन्नता हुई। उनकी कृपालुता का पारावार नहीं है। उदारता तथा आत्मीयता प्रदान कर जगत के लिए तथा अपने लिए उपयोगी बनाया। उनकी महिमा अनन्त तथा अपार है। वे कितने अच्छे हैं! इसके लिए जितना कहा जाय, कम है। उनकी निर्मित सृष्टि भी बड़ी ही सुन्दर है। इतना ही नहीं, वे ही अनेक रूपों में नित-नव लीला कर रहे हैं।

हे लीलाधारी! शरणागतों को निरन्तर अपनी प्रियता देते रहो, जिससे वे तुम्हारी दी हुई प्रियता से तुम्हें रस प्रदान करते रहें। हे रसिक-शिरोमणि! तुम बड़े ही रसीले हो। अपने निज-रस से रस की वर्षा करते रहो। रस के आदान-प्रदान में ही जीवन है। नीरसता का अत्यन्त अभाव कर निष्काम बनाकर, अपनी आत्मीयता का पात्र बना लो। तभी मानव 'मानव' होकर सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। हे लीलामय! ऐसी लीला कर मानव-समाज को उदारता, स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता से परिपूर्ण कर कृतकृत्य कर दो, जो एकमात्र आपकी अहैतुकी कृपा से ही सम्भव है। कृपा-पालित मानव को अपने प्रेम का पात्र बनाओ, तभी आपकी लीला पूर्ण होगी। यद्यपि मैंने आपकी कृपा का दुरुपयोग किया है, परन्तु अब मेरा कोई आश्रय भी तो नहीं है। हे सर्वाधार, सर्व-आश्रयदाता! अपनी ओर देख, अपनाओ—यही अन्तिम माँग है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। निकटवर्ती प्रियजनों तथा सत्संग-प्रेमियों को सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!! ❁

तुम्हारा

.....

१८२

बम्बई
२९-८-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

तुम निस्सन्देह अनन्त की अनुपम खिलौना हो। अपने खिलाड़ी को रस प्रदान करती हुई, सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। उन्होंने तुम्हारा निर्माण अपने मैं-से ही किया है। तुम्हारी उनकी जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है। तुम उनकी प्रीति और वे तुम्हारे प्रियतम हैं। उन्हें तुम अत्यन्त प्रिय हो और वे तुम्हारे जीवन हैं। उनकी विस्मृति ही साधक की भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है, जो एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है। अविनाशी का संग करने में साधक सदैव स्वाधीन है। विनाशी की असंगता में अविनाशी की आत्मीयता स्वत: सिद्ध है।

सेवा-पूजा के अन्त में स्वभाव से ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, और फिर प्रिय की मधुर स्मृति स्वत: जागृत हो, प्रीति से अभिन्न करती है। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही जीवन की पूर्णता निहित है। श्रद्धा और सजगता से सेवा-पूजा सजीव होती है। श्रद्धा आत्मीयता की और सजगता असंगता की जननी है। सजगता से साधक श्रद्धा का अधिकारी होता है और श्रद्धा से सजगता स्थायी होती है। इन दोनों में परस्पर अभिन्नता है, भिन्नता नहीं।

हृदय और मस्तिष्क की भिन्नता ने ही जीवन

में द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न कर दी है। अतः इन दोनों की एकता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। इन्द्रिय एवं बुद्धि-दृष्टि से जो-जो दिखाई देता है, उस पर अपने प्रियतम की सील लगा दो। फिर तो प्रत्येक दृश्य उनकी स्मृति जगाने में हेतु बन जायगा। सब कुछ उन्हीं का तो है। इतना ही नहीं, सभी में वे ही तो हैं और तुम उन्हीं की नित्य प्रिया हो। तुम्हारे प्रियतम तुम्हें अपनी प्रीति प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अपने खिलाड़ी की खिलौना होकर उन्हें रस प्रदान करती रहो। किसी प्रेमी का वचन है कि उनके मत्थे पड़ जाओ, अर्थात् अपने को सब प्रकार से उन्हीं के अर्पित कर निश्चिन्त यथा निर्भय हो जाओ। अपने में उनकी आत्मीयता से भिन्न कुछ न रह जाय। बस, यही सफलता की कुंजी है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१८३

बम्बई
३१-८-६३

अहैतुकी कृपा से निर्मित प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

प्रियता ही तुम्हारा स्वरूप है। प्रेमास्पद ने अपने ही में-से प्रीति देकर तुम्हारा निर्माण किया है। उनकी आत्मीयता ही तुम्हारा जीवन है। उन्हें रस देना ही तुम्हारा स्वभाव है। अपने से निर्मित प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति उन्हें अत्यन्त प्रिय है। प्रीति और प्रीतम से भिन्न कभी कुछ हुआ ही नहीं। अनेक रूपों में, अनेक प्रकार से प्रीति और प्रियतम की नित-नव लीला निरन्तर हो रही है। यह रहस्य सत्संग से ही स्पष्ट होता है। अपने में अपना करके कभी कुछ नहीं था और न है। सब कुछ उन्हीं का है और वे ही हैं। प्रत्येक दृश्य उनका होने से उनकी मधुर स्मृति जगाने में समर्थ है। स्मृति में ही जीवन है। इतना ही नहीं, स्मृति ही जीवन है। दूरी, भेद, भिन्नता का नाश स्मृति की जागृति में स्वतः हो जाता है।

हे दिव्य-ज्योति ! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अनेक रूपों में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो, और प्रियता होकर प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, नित-नव रस देकर उन्हें अपनाती रहो। नित्य-मिलन तथा

नित्य वियोग से प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे—इसी सद्भावना-सहित बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

....

१८४

श्रीवृन्दावन

२७-९-६३

साधननिष्ठ दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

समस्त सृष्टि जिससे निर्मित है, वह सभी का अपना है। उसे अपनी सृष्टि अत्यन्त प्रिय है। कारण कि, अपना निर्माण अपने को स्वभाव से ही प्रिय होता है। इतना ही नहीं, उसने तो मानव का निर्माण अपने में-से ही किया है। अतः सभी साधक उसे अत्यन्त प्रिय हैं। तो क्या 'वे' हमें अत्यन्त प्रिय नहीं होने चाहिए ? उनकी दी हुई प्रियता ही उन्हें देना है। यदि कोई साधक मिली हुई साधन-सामग्री से साधन-निष्ठ नहीं होता, तो यह उसकी अपनी भूल है। साधक के जीवन में भूल के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

इसी दृष्टि से मानव सेवा संघ ने प्रत्येक कार्य के पूर्व और अन्त में सत्संग की प्रेरणा दी है। सत्संग से उदित साधन से ही साधक की अभिन्नता होती है। साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता सभी साधकों को जन्मजात् प्राप्त है। समस्त दृश्य में सत्ता रूप से वे स्वयं ही मौजूद हैं। और जो कुछ हो रहा है, वह उन्हीं की लीला है। लीला देखते हुए उन्हीं का होकर रहना है।

उनकी आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है। वे सदैव हमारी ओर देख रहे हैं, पर हम उनकी ओर नहीं देखते। इस असावधानी का सदा के लिए अन्त कर देना है। उनकी प्रियता उन्हीं से माँगो और उन्हें देकर उन्हें रिझाओ। साधक का निर्माण उन्होंने अपने लिए ही किया है।

उनसे कह दो—"हे प्रेमास्पद ! भोग और मोक्ष की भूख मिटा दो, प्रियता की भूख जगा दो, अपने निर्मित जीवन को अपने लिए उपयोगी बना लो।" वे व्यथित हृदय की पुकार शीघ्र सुनते हैं, यह निर्विवाद सत्य है। यद्यपि वे स्वतः सब कुछ जानते हैं, फिर भी व्यथित हृदय से पुकारती रहो। सफलता अनिवार्य है। जैसे रखें वैसे रहो, पर अनेक रूपों में उन्हीं को देखते हुए अनेक प्रकार से उन्हीं को लाड़ लड़ाओ। वे सदैव तुम्हारे और तुम उनकी हो। इतना ही नहीं, कण-कण में प्रीति और प्रियतम का नित्य-विहार निरन्तर हो रहा है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने आत्मीयता को ही सर्वस्व स्वीकार किया है। सब कुछ देकर आत्मीयता ले लो। बस, यही परम पुरुषार्थ है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। वे धन्य हैं, जिन्हें साधकों की सेवा का सुअवसर मिलता है। सच तो यह है कि अन्तर्यामी रूप से वे स्वयं ही साधक की सेवा अनेक रूपों में करते हैं। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत प्यार !

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

१८५

हैदराबाद
१७-१२-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

मंगलमय विधान से प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः मिलती है। सभी परिस्थितियों से अतीत परम प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, सफलता अनिवार्य है। वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को विधिवत् करने से करने का राग भी निवृत्त होता है और भविष्य भी उज्ज्वल होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्हें अपने लिए सत्संग से भिन्न कुछ नहीं करना है।

श्रम तथा प्रतिकूलताओं के भय से रहित होना अनिवार्य है और प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहना है। पोस्टमैन की भाँति मिली हुई शक्ति का सद्व्यय होता रहे और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला का दर्शन हो, तो फिर जो करना चाहिए वह होने लगता है। 'करना' 'होने' में, 'होना' 'है' में विलीन हो, साधक को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करता है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। रोम-रोम में उन्हीं की सील लगाकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। उनकी प्रियता ही तुम्हारा जीवन है। तुम सदैव उनकी, और वे तुम्हारे हैं। अनेक रूपों में अनेक प्रकार से उन्हीं को लाड़-लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१८६

बलिया

३-२-६४

देहातीत दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो !

शारीरिक स्वास्थ्य का भी यथाशक्ति ध्यान रखिये। शरीर की सेवा से भी शरीर का राग नाश होता है। अपने प्यारे की प्रत्येक वस्तु प्यारे के नाते ही प्रिय है। निर्मम होकर की हुई सेवा ही प्यारे की पूजा है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में प्रिय की मधुर-स्मृति ही अपना जीवन है। स्मृति होती रहे, लीला देखती रहो और पूजा करती रहो—यही मेरी सद्भावना है।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से ही सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-जीवन में प्रवेश होता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि भूल है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त कुछ नहीं है। साधन-सामग्री का सदुपयोग साध्य की अगाध प्रियता जगाने में है। वे अपने हैं, सब कुछ उनका है—यही महामन्त्र है। परिस्थितियों का सदुपयोग कर उनकी दी हुई सामग्री से अनेक रूपों में उन्हीं की पूजा करो और उनकी आत्मीयता को पाकर प्रियता को जगाकर कृत-कृत्य हो जाओ।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार ! निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित अभिवादन एवं बहुत-बहुत प्यार ! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हें अपनायें और अपना प्रेम प्रदान करें, इसी सद्भावना के सहित।

तुम्हारा

.....

१८७

श्रीवृन्दावन
१३-८-६४

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्यारे की प्रीति और विश्व की सेवा होकर रहो ! यही मेरी सद्भावना है।

शरणागत के जीवन में हर्ष तथा विषाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, उनकी दृष्टि में अपने प्यारे से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। अनेक रूपों में उस एक ही को आदर तथा प्यार देते हुए उसी की प्रीति हो जाना है। प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है।

तुम्हारा निर्माण सर्व-समर्थ ने अपने ही में-से किया है। अतः उन्हीं की पूजा करनी है। वे जैसे चाहें वैसे राखें, उनकी मौज ! उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है।

जिन्होंने उनका होकर रहना स्वीकार किया, वे सभी उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये। उनके होने में ही अपने

पुरुषार्थ की परावधि है। यह सामर्थ्य भी उन्हीं की दी हुई है। उन्होंने मानव का निर्माण अपने ही लिए किया है। अतः उनकी होकर उनके काम आओ। बस, यही इस जीवन की सार्थकता है।

तुम्हारा

.....

१८८

श्रीवृन्दावन
१८-८-६४

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्यारे प्रभु की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। तुम्हारा निज-स्वरूप एकमात्र प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है, यह निर्विवाद सत्य है। साधक अपनी ही भूल से अपने को प्रीति से विमुख कर लेता है। अपने द्वारा अपनी ओर देखते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' का स्वरूप 'यह' से अतीत और 'वह' की प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। भला, अपने में अपनी प्रियता न होगी? अपने प्यारे की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे उन्हीं की प्रियता जगाने के लिए परिस्थिति के अनुसार कर डालना है और सब प्रकार से अभय रहना है। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। ज्यों-ज्यों साधक उनकी महिमा

को अपनाता है, त्यों-त्यों स्वतः अभय होता जाता है। उनकी महिमा की विस्मृति ने ही साधक को श्रद्धा-विश्वास से विमुख किया है, जो विनाश का मूल है।

निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१८६

श्रीवृन्दावन
१६-११-६४

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

अनेक रूपों में अपने ही प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

सद्गुरु-वाक्य है कि 'आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती है और आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं।

वास्तव में तो शरणागत को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। शरण्य जो चाहते हैं कराते हैं। उनका कराया हुआ मंगलमय होता है। उनसे भिन्न की सत्ता किसी काल में है ही नहीं। तुम उन्हीं की प्रीति हो। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं। जैसे राखें वैसे रहो, जो करायें वही करो, अपने को देकर उनकी प्रियता को ले लो। फिर कुछ न देना है और न कुछ लेना है।

भक्त-मंडली के साथ रहने में प्रेमास्पद की नित-नव चर्चा होती ही रहती है। इस समय बड़ा ही सुन्दर संयोग बन गया है कि आप सभी लोग भक्तनिष्ठ साधक हैं। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। प्रिय-चर्चा से भिन्न और कोई चर्चा नहीं है।

अभिनय के रूप में सेवा करते हुए अनेक प्रकार से अपने ही प्यारे को लाड़ लड़ाओ। उन्हीं की होकर रहो, उनकी प्रियता ही जीवन है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

१९०

बराबंकी
२७-११-६४

साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा प्रभु की प्रीति होकर रहो !

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है। सर्व-संकल्पों को त्याग, स्वाधीन होने में ही जीवन की उपयोगिता है। कारण कि, स्वाधीन होने पर ही उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात् प्राप्त है—यह उसके रचयिता की महिमा है।

मानव अपनी ही भूल से पराधीन हो, अनुपयोगी हो जाता है। भूल-जनित वेदना पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को

भस्मीभूत कर देती है और फिर मानव सहज भाव से निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर उदारता तथा प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। अतः अपने सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जायँ। बस, यही सफलता की कुञ्जी है। सभी महानुभावों को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

१९१

भागलपुर

२८-१२-६४

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

प्रत्येक दशा में प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

सेवा द्वारा विश्व के रूप में और प्रीति होकर प्रीतम के रूप में अपने ही प्यारे को लाड़ लड़ाना है। सेवा स्वतः प्रीति में परिणत हो जाती है, और प्रीति ही सगुण रूप धारण कर सेवा करती है।

किसी भी साधक को अपने लिए तो कुछ भी करना है ही नहीं। कारण कि, निर्ममता, निष्कामता, असंगता विचार-सिद्ध है, श्रमसाध्य नहीं; और शरणागति श्रद्धा-सिद्ध है। ज्यों-ज्यों साधक उनकी महिमा को स्वीकार करता जाता है, त्यों-त्यों शरणागति सजीव होती जाती है। यह मंगलमय विधान है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

प्रियता से तुम्हारा जीवन परिपूर्ण हो जाय, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

१९२

श्रीवृन्दावन
९-१-६५

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

अपनत्व से जागृत अगाध प्रियता ही तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो और न देहादि कोई भी वस्तु तुम्हारी अपनी है। एकमात्र 'वे' ही तुम्हारे अपने हैं, जो तुम्हें जानते हैं और तुम उन्हें मानती हो। उनसे भिन्न की सत्ता स्वीकार करना ही आस्तिक साधक की भूल है।

तुम सदैव उन्हीं की गोद में हो। अतएव प्रीति होकर उन्हें रस प्रदान करती रहो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमास्पद ने अपने ही में-से तुम्हारा निर्माण किया है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।
जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !
ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

१६३

देहरादून
३०-४-६५

परम भागवत श्रीप्रिया एवं लाड़ली,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

सब प्रकार से प्यारे प्रभु का हो जाने पर सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है, यह मंगलमय विधान है। श्रद्धा-पथ के साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, समर्थ की अहैतुकी कृपा उसे प्रीति से अभिन्न कर देती है। प्रीति की जागृति में एकमात्र आत्मीयता ही हेतु है, जो शरणागति स्वीकार करने से स्वतः प्राप्त होती है। जिसने अपने में अपना करके कुछ नहीं पाया, उसने अहैतुकी कृपा से सब कुछ पाया। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सर्व-समर्थ की महिमा को स्वीकार किया है। उनकी महिमा स्वीकार करते ही साधक अभय हो जाता है, अर्थात् उसे सर्वत्र-सर्वदा अपने प्यारे की अनुपम लीला का ही दर्शन होता है। इतना ही नहीं, उनकी महिमा को सोच-सोच अपने को न्यौछावर कर उनके प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

वे धन्य हैं, जिन्होंने सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना स्वीकार किया है। उनकी ओर से तो सब उनके हैं ही, पर अपनी ओर से उनके होने की बात स्वीकार करना ही श्रद्धा-पथ के साधक का परम पुरुषार्थ है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो।

प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा पूजा करती हुई उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो, उन्हीं की महिमा गाती रहो। इतना ही नहीं, सदैव उन्हीं की गोद में विश्राम करो। उत्तरोत्तर उन्हीं की प्रीति बढ़ती रहे। इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

१९४

ऋषिकेश
६-५-६५

परम भागवत साधननिष्ठ श्रीप्रिया तथा लाड़ली,

प्रत्येक दशा में प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

डरो मत। तुम सदैव समर्थ की गोद में हो। तुम्हें अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं है। उन्हीं की बाटिका की सेवा करना है। सेवा के लिए आवश्यक सामर्थ्य अवश्य मिलती है। यह उन्हीं का मंगलमय विधान है। इसमें अविचल आस्था करो।

निवृत्ति में प्रीति का प्रवाह स्वतः जागृत होना चाहिए और प्रवृत्ति में पूजा होती रहे। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनों एक ही जीवन के दो पहलू हैं, जो शरणागत होने पर स्वतः होते रहते हैं।

सदैव अपने को उन्हीं में और उनको अपने में देखती रहो। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। साधक उनकी महिमा को भूलने पर ही भयभीत होता है। अपने को सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना और उनके प्रेम की भूख बढ़ाना है, जो एकमात्र अपनत्व से ही साध्य है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

१९५

राजकोट
६-९-६५

परम भागवत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

प्रीति होकर प्रियतम की लीला देखती रहो। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। विश्व विश्वनाथ का प्रकाश है और शरीर उसी का एक अंशमात्र है। शरीर चाहे जैसा क्यों न रहे, उसके बनने-बिगड़ने से तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं।

निर्मम, निष्काम तथा असंग होने पर शरीर के प्रति जो होता है, वह भी तो उन्हीं की पूजा है। भला, तुम ही बताओ, ऐसी कौनसी वस्तु है जो उनकी नहीं है ? सब कुछ उनका ही है और वे तुम्हारे अपने हैं। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा

स्वाभाविक है। प्रेम तुम्हारा सहज स्वरूप है। तुम्हारे और उनके बीच प्रेम का आदान-प्रदान होता रहे, यही मेरी सद्भावना है।

प्रेम की भूख इतनी बढ़ जाये कि मन, इन्द्रिय आदि सभी अपने विषय से विमुख होकर प्रेम से अभिन्न होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करें। उन्होंने तुम्हारा निर्माण अपने में-से ही किया है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से देहाभिमान खाकर तुम्हें प्रेम प्रदान अवश्य करेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। बस, इसी सद्भावना के साथ,

तुम्हारा

१९६

बड़ौदा

१०-९-६५

परम भागवत प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

इस समय देश बड़े संकट में आ गया है। भारतियों को पवित्र भाव से पूरी शक्ति लगाकर अपनी रक्षा करते हुए अमानवता का अन्त करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक भारतीय बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर

करते हुए सर्वहितकारी सद्भावना को अपनाये। विश्व की सेवा तथा विश्वनाथ का प्रेम मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यद्यपि विश्वनाथ के प्रेम में विश्व-सेवा और विश्व-सेवा में विश्वनाथ का प्रेम ओत-प्रोत है। परन्तु प्रमादवश मानव इन दोनों में भेद कर बैठता है। उसका परिणाम अहितकर ही सिद्ध होता है।

हिन्दुस्तान एक देश है। बेसमझी से लोग उसे दो देश मानते हैं। इतना ही नहीं, वास्तव में तो समस्त विश्व एक है, और विश्व तथा विश्वनाथ से मानव का अविभाज्य सम्बन्ध है। यदि मानव काल्पनिक भेद को अस्वीकार कर तथा वास्तविक एकता को स्वीकार कर, बल विश्व की सेवा में लगाये और निज-ज्ञान के द्वारा अचाह होकर श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक उसके प्रेम को अपनाये जो सभी का अपना है, तो सभी समस्याएँ हल हो जायें। किन्तु काल्पनिक भेद में आबद्ध मानव बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर कर अपना और दूसरों का अहित ही कर रहा है। धन और जन की क्षति सुनकर हृदय पीड़ित है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र में सोई हुई मानवता को जगा दें, यही मेरी सद्भावना है। तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!! ❁

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

१९७

भरतपुर
१३-९-६५

परम भागवत साधननिष्ठ दुलारी बेटी,
जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

विश्वासी साधक के जीवन में समर्थ की महिमा की स्मृति अखण्ड रूप से रहती है। उसी से उसकी सभी निर्बलताएँ स्वतः नाश हो जाती हैं।

शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिए रोग आया है। उससे डरो मत, अपितु उसका सदुपयोग करो। रोग का सदुपयोग देह की वास्तविकता का अनुभव कर, उससे असंग हो जाना है। शरीर की असंगता में ही प्रेमास्पद की आत्मीयता-पूर्वक अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से असंग होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

असंगता शरणागत साधक को स्वतः प्राप्त हो जाती है। कारण कि, उसके जीवन में श्रद्धास्पद की महिमा से भिन्न कुछ नहीं रह जाता। तुम स्वयं दुःखहारी से कुछ मत कहो। क्या वे तुम्हें दुःखी देख स्वयं दुःखी नहीं होते होंगे ! उनसे कह दो—'मेरे नाथ ! यदि मुझे दुःखी देखकर प्रसन्नता होती है, तो दुःख सहने की सामर्थ्य दीजिये। नहीं तो, सुख के प्रलोभन से रहित कर मुझे अपनी प्रीति प्रदान कीजिये। मैं भले ही तुम्हें भूल जाऊँ, पर तुम तो मेरे परम सुहृद् होने से कभी भूल ही नहीं सकते। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी हूँ। तुमने अपने ही में-से मेरा निर्माण किया है। प्रेम के प्रसार के लिए अब प्रेममयी लीला करो, जिससे तुम्हारी महिमा मेरा जीवन होकर तुम्हारा दिया हुआ प्रेम तुम्हें भेंट करती रहूँ, जिससे तुम्हें रस मिले। तुम्हारा

रस ही मेरा जीवन है। हे जीवन धन ! अपनी ओर देखिए और अपने चरणों में अनन्य भक्ति देकर मुझे अपनाइये।'

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

१९८

श्रीवृन्दावन
१७-९-६५

कृपाश्रिता भक्तिमति साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम यथोचित।

जिन शरणागत साधकों ने अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया, वे सभी पार हो गये। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव-मात्र को मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर दी है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग सर्वतोमुखी विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सुख-दुःख से अतीत रसरूप जीवन की आवश्यकता अनुभव की है। आवश्यकता अनुभव करना साधक का स्वधर्म एवं परम पुरुषार्थ है। आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

दुःख का प्रभाव तो विकास का मूल है। पर दुःख के भय से तो साधक की क्षति ही होती है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधकों की सेवा की सामर्थ्य प्रदान करें—इसी सद्भावना के साथ।

अकिंचन
तुम्हारा

१९९

प्रयाग
१४-१-६५

कृपापालित साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो !

अन्तर्ज्योति जगाने के लिए ही अस्वस्थता आई है। उसका आदरपूर्वक स्वागत करना है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु अनन्त की प्रीति हो। प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस देना ही तुम्हारा स्वधर्म है। तुम सदैव उन्हीं की गोद में हो और वे रोम-रोम में भरपूर हैं—इस वास्तविकता में अविचल आस्था कर, उनकी महिमा को अपनाओ। सचमुच उनकी दया का कोई पारावार नहीं है। उनका प्यार ही हम सबका जीवन हो जाय, बस यही लालसा सतत उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्यार की भूख भी बड़ी रसीली भूख है। इस जीवन की सार्थकता एकमात्र उनकी अगाध प्रियता में ही है। कारण कि, प्रियता अहंता को खाकर जीवन को उपयोगी कर देती है।

निश्चिन्त तथा निर्भय होकर लाड़ लड़ाती रहो, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो, ठीक करो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना के साथ
तुम्हारा

.....

२००

धनबाद
२४-९-६५

परम भागवत साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो !

तुम्हारा जातीय तथा नित्य-सम्बन्ध एकमात्र 'उन्हीं' से है- वे जानते हैं, तुम मानती हो। उन्होंने अपने में-से ही अपनी नित्य-प्रिया का प्रादुर्भाव किया है। प्रेम और प्रेमास्पद में किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है, अपितु प्रेमास्पद में प्रेम और प्रेम में प्रेमास्पद ओत-प्रोत हैं। इस दृष्टि से तुम उनकी और वे तुम्हारे हैं।

अपने में अपनत्व ही साधक का सर्वस्व है। निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता अपनत्व से ही अभिव्यक्त होती हैं। समस्त दृश्य और उसका प्रकाशक कोई और नहीं है, तुम्हारे ही प्रेमास्पद हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी पूजा, सेवा तथा प्रेम के योग्य बना लें—यह माँग वे ही पूरी करेंगे। ऐसा मेरा अविचल विश्वास है। कारण कि, यह माँग वैधानिक माँग है। इसी माँग की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी ओर देख, अपने ही में-से साधक का निर्माण किया है। साधक सर्वदा उन्हें और उनकी लीला को देखता है।

हे लीलामय ! अब तुम ऐसी लीला करो, जिसको देख सभी साधकों का जीवन परम प्रेम से भर जाय। तुम अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास देकर साधकों को निर्भयता प्रदान करो। शरणागत का भय आपने सदैव हरा है। शरणागत-भय-हारी आपका विरद है। ऐसा शरणागत भक्तों ने अनुभव किया है।

आपकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। आपके अपनाने के अनेक ढंग हैं। जिनका कोई और है ही नहीं, उनकी पुकार तो आप सदैव सुनते रहे हैं। हे भयहारी ! अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता शीघ्र प्रदान करें। शरणागत की यही माँग है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,

तुम्हारा

.....

२०१

कानपुर

२७-९-६५

परम भागवत स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो !

श्रद्धावान् साधक सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा का आश्रय पाकर सदा के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं। कारण कि, वे सर्वत्र-सर्वदा अनेक रूपों में अपने प्रियतम को ही पाते हैं; प्रत्येक परिस्थिति में उन्हीं की सेवा-पूजा करते हुए प्रेमास्पद की मधुर स्मृति ही होकर रहते हैं। अर्थात् प्रिय की मधुर स्मृति ही उनका जीवन है। स्मृति आत्मीयता से जागृत होती है, जिसे साधक आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक स्वतः स्वीकार करता है। जब अनेक स्वीकृतियाँ एक स्वीकृति में विलीन हो जाती हैं, तब अखण्ड स्मृति स्वतः जागृत होती है। इस दृष्टि से आत्मीयता ही प्रियता की भूमि है। अनेक सन्तों, भक्तों तथा सद्ग्रन्थों से

यह सिद्ध है कि साधक का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है। तो फिर भय, चिन्ता आदि के लिए साधक के जीवन में स्थान ही कहाँ है ?

दुःख का प्रभाव दुःखी को दुःखहारी प्रभु से अभिन्न करने में समर्थ है। सुख का प्रलोभन मिटाने के लिए दुःखहारी स्वयं दुःख के वेष में प्रगट होते हैं और फिर सुख के प्रलोभन को खाकर दुःखी को अपने से अभिन्न कर प्रियता प्रदान करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। उनसे आस्था, श्रद्धा, विश्वास की प्रार्थना करना साधक का परम पुरुषार्थ है। उनकी आस्था पाकर भयभीत अभय हो जाते हैं और अनाथपन सदा के लिए मिट जाता है। अर्थात् साधक सनाथ हो जाता है और फिर उसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वे तो जानते ही हैं कि साधक उनका अपना है। उन्हें साधक अत्यन्त प्रिय है। साधक में भी उनकी प्रियता की माँग रहनी चाहिए। बस, बेड़ा पार है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,

तुम्हारा

.....

२०२

कानपुर

१-१०-६५

परम भागवत दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो !

प्राकृतिक विधान के अनुसार सुख और दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन-सामग्री के सदुपयोग से प्रत्येक साधक को साध्य की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का उत्साह, उमंग तथा धीरजपूर्वक सदुपयोग करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साध्य में

साधक की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास हो। यद्यपि साधक की साध्य से ही जातीय एकता है, परन्तु साधक भूल से अपने नित्य-सम्बन्ध में अविचल आस्था नहीं करता। स्वाभाविक माँग तो साधक में अविनाशी सरस जीवन की ही है। माँग उसी की होती है, जो मौजूद है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक किसी साधक के माध्यम से साध्य की महिमा को स्वीकार करे, स्वीकृत महिमा का परस्पर साधकों के साथ वर्णन करे। जैसे आशुतोष भगवान् शंकर तथा उमा करते थे। महिमा के श्रवण, कथन, चिन्तन से महिमा में श्रद्धा, विश्वास हो जाता है और फिर भय, चिन्ता, शोक आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता, अपितु साध्य की प्रियता जागृत होती है, जो वास्तविक जीवन है।

सहजभाव से प्रेमास्पद की महिमा गाती रहो और उत्तरोत्तर हृदय में उत्साह बढ़ाती रहो। प्रेम देने में पराधीनता नहीं है। प्रेम से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। प्रीति की जागृति में एकमात्र अपनत्व ही मूल हेतु है। जब मिले हुए और देखे हुए की वास्तविकता स्पष्ट होती है, तब केवल जो मौजूद हैं उन्हीं की अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास रह जाता है, जो साधक का सर्वस्व है। मौजूद पर ही सतत दृष्टि लग जाय, कोई और नजर न आये।

वास्तव में तो सत्ता रूप से सदैव-सर्वत्र अपने प्यारे ही हैं, और कोई है ही नहीं। तो फिर भय, चिन्ता आदि के लिए स्थान ही कहाँ है ? उनकी महिमा की विस्मृति ही भय, चिन्ता आदि को जन्म देती है। निर्बल साधक तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सर्व-समर्थ में आत्मीयता स्वीकार कर लेता है, और फिर निश्चिन्त, निर्भय होकर निरन्तर गुण-गान करते हुए जीवन-

यात्रा को सरस बना लेता है। साध्य की महिमा का वर्णन करने से उत्तरोत्तर साध्य की प्रियता बढ़ती ही रहती है, ऐसा श्रद्धावान् साधकों का अनुभव तथा विश्वास है। साधक की दृष्टि वर्त्तमान और विद्यमान में ही रहती है। विद्यमान से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं है। विद्यमान की विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। कितना सुन्दर श्री मीरा जी का वचन है—

प्रियतम पतिया तो लिखूँ, जो तुम होव विदेश,
तन में, मन में, नैन में, तिनको कहा संदेश।

यह वास्तविकता सभी साधकों के लिए सर्वदा सम्भव है। इसमें विकल्प करना अपनी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!! ❁

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

२०३

कानपुर
३-१०-६५

परम भागवत साधननिष्ठ दुलारी बेटो,

सर्वदा निश्चिन्त तथा अभय रहो!

यह जानकर कि सर्वहितकारी पावन शरीर कफ, खाँसी से पीड़ित है, हृदय करुणित हो उठा। यह रोग तप कराने आया है और शरीर से असंगता एवं प्रभु से आत्मीयता की प्रेरणा देकर सदा के लिए शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रियता का अधिकारी

बना रहा है, ऐसा मेरा विश्वास है। चित्त में प्रसन्नता, मन में निर्विकल्पता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जायगी, त्यों-त्यों स्वतः आरोग्यता आती जायगी। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। सुख के प्रलोभन का नाश होने पर दुःख का भय स्वतः मिट जाता है। रोगावस्था में साधक को तप को अपनाना अनिवार्य है। भोजन औषधि के समान हो जाय, केवल सेवा में ही प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाय। सुख-सम्पादन के लिए कुछ भी नहीं करना है, अपितु सुख से विमुख होकर शान्ति का सम्पादन करना है। शान्ति के समान और कोई तप नहीं है। समस्त शक्तियों का विकास शान्ति में निहित है। यह रही मानव के पुरुषार्थ की बात।

जो साधक अपने को असमर्थ अनुभव करता है, उसे तो एकमात्र सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से उन्हीं का हो जाना है। वे अपने हैं, उनकी महिमा का पारावार नहीं है। सदैव सर्वत्र उन्हीं की लीला देखो। उनकी अनन्य शरणागति ही एकमात्र अपना सम्बल है, जिसे तुमने बड़ी ही ईमानदारी से अपना लिया है। वे सदैव तुम्हें देख रहे हैं। उनके समान और कोई परम सुहृद् नहीं है। उन्हीं से उनकी प्रियता माँगती रहो। सर्वत्र सभी में उन्हीं को देखो, कोई और है नहीं। यहाँ तक कि तुम्हें अपने में भी अपना करके कुछ भी नहीं दिखाई देगा। 'मैं' 'है' का भेद शेष न रहेगा।

जब सभी उन्हीं से सत्ता पाते हैं और उन्हीं से प्रकाशित हो रहे हैं, तो फिर किसी अन्य का अस्तित्व ही कहाँ है? भोग की रुचि से संसार की प्रतीति होती है, किन्तु जिसकी प्रतीति होती है उसकी प्राप्ति नहीं होती—यह उनके दिए हुए ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान उन्होंने आप्तकाम होने के लिए दिया है और बल उदार

बनाने के लिए। आप्तकाम होने पर साधक उदारता तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है। जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिये वही आप्तकाम है। आप्तकाम होते ही भोग, मोह और आसक्ति का नाश और योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। रोग तुम्हें स्वाधीनता देकर ही पीछा छोड़ेगा। कारण कि, वह परम सुहृद् की ओर से आया है। उसका आदरपूर्वक स्वागत करो। उससे डरो मत।

जिसका अपना कोई संकल्प नहीं रहता, उसके सभी आवश्यक संकल्प पूरे होते रहते हैं—यह प्रभु का मंगलमय विधान है। उदारता, समता, प्रियता से भिन्न कुछ न रह जाय—यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

२०४

मुकामा
८-११-६५

परम भागवत साधननिष्ठ अहैतुकी कृपा से पालित,
सर्वदा अभय रहो !

पराधीनता-जनित सुख का अन्त करने के लिए और स्वाधीनता तथा अपनत्व से जागृत नित-नव रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रतिकूलता मंगलमय विधान से आती है। विचारशील साधक प्रतिकूलता का आदर-पूर्वक स्वागत करते हुए तपोमय जीवन अपनाते हैं। प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति संयम का मूर्तिमान

रूप धारण कर लेती है और फिर प्रतिकूलता सदा के लिए विदा हो जाती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति यज्ञरूप होकर प्रेमास्पद की प्रीति जगाने में सहयोगी सिद्ध होती है।

अपने में अपने परम सुहृद् प्रेमास्पद मौजूद हैं। उनकी आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है। उनकी महिमा का गुणगान ही अपना स्वधर्म है।

स्वधर्मरत साधक सफलता के साम्राज्य में ही वास करते हैं, यह मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था रहनी चाहिये। सभी प्रवृत्तियाँ उन्हीं की पूजा हैं। कारण कि, उनकी दी हुई परिस्थिति का उन्हीं की प्रियता के लिए यथाशक्ति सदुपयोग करना है। जब दृश्य से संयोग-जनित सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता, तब नित्ययोग तथा सहज स्नेह स्वतः जागृत होता है, और फिर साधक साध्य की अगाध प्रियता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आवश्यक सामर्थ्य तथा साधन-सामग्री साध्य की अहैतुकी कृपा से साधक को स्वतः प्राप्त होती है। प्राप्त सामग्री का सदुपयोग ही वास्तविक पूजा है। असमर्थता की अनुभूति होने पर साध्य की महिमा में अविचल आस्था आस्तिक साधक को होती है। प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा साध्य की पूजा और असमर्थता अनुभव होने पर प्रार्थना स्वतः होती रहे। बस, यही सफलता की कुंजी है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,

तुम्हारा

२०५

पटना
६-१-६६

परम भागवत साधननिष्ठ श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

शरणागति सफलता की कुञ्जी है और साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत शरण्य को अत्यन्त प्रिय है। कारण कि, शरणागत का कोई और नहीं है। इतना ही नहीं, शरणागत अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। शरण्य की महिमा में उसकी अविचल आस्था सदैव रहती है। आस्था आस्थावान् को उससे अभिन्न कर देती है जिसकी उसने आस्था स्वीकार की है।

आस्था से भिन्न आस्थावान् का कोई अस्तित्व नहीं है। श्रद्धा और विश्वास आस्था के ही रूप हैं। श्रद्धास्पद की महिमा ही तो श्रद्धावान् का जीवन है। श्रद्धास्पद सदैव अपने शरणागत को देख रहे हैं। शरणागत कभी-भी शरण्य की आँख से ओझल नहीं होता, और न शरणागत की दृष्टि में ही कोई और रह जाता है। इसी कारण शरणागत में बड़े ही सहज भाव से निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है और फिर उसका जीवन निर्विकारता, चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रियता से परिपूर्ण हो जाता है।

शरण्य के नाते सभी अपने हैं, पर वास्तव में तो शरण्य ही अपने हैं। वे अपने हैं, अपने ही में हैं और उनकी प्रियता से भिन्न अपना कोई अस्तित्व ही नही है। पर यह रहस्य उनकी अहैतुकी कृपा से ही स्पष्ट होता है। जिन साधकों ने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया, वे सभी पार हो गये; अर्थात् उस जीवन को पा गये, जिनको पाकर कुछ और पाना शेष नहीं रहता।

प्रेमास्पद अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर शरणागत को अपनाते हैं। शरणागति उन्हीं की देन है। उन्हीं ने जिज्ञासा-पूर्ति के लिए साधक में विचार का प्रादुर्भाव किया है और वे ही अपनी प्रियता प्रदान करने के लिए शरणागति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। सत्ता रूप से तो कभी कोई और है ही नहीं। प्रीति और प्रियतम उन्हीं का स्वरूप है। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र शरणागति से ही साध्य है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था से ही शरणागति सजीव होती है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

२०६

श्रीवृन्दावन
१७-११-६७

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में अभाव का अभाव सदा के लिए स्वतः हो ही जाता है। ऐसा अनुभव-सिद्ध सत्य है। इस सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। शरीर के रहने; न रहने से विश्वासी साधक के जीवन में कोई लाभ-हानि की बात ही नहीं है। प्रभु-विश्वास कल्पतरु है, प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का अचूक उपाय है। जिसने प्रभु-विश्वास पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया। प्रभु-विश्वास को अपनाते ही अन्य विश्वास स्वतः नाश हो जाते हैं। प्रभु-विश्वासी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। कारण कि, प्रभु-विश्वास अन्य सम्बन्ध, अन्य चिन्तन का अन्त कर देता है। इतना ही नहीं, विश्वासी साधक के लिए प्रभु-विश्वास ही गुरु-तत्व है। यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने गुरु-वाक्य के आधार पर प्रभु-विश्वास अपनाया है।

'करने' और 'होने' के रहस्य को अनुभव करो। करना है केवल प्रभु-विश्वास और हो रही है अनन्त की अनुपम लीला। लीला देखो, पर लीलामय की महिमा को अपनाती रहो। जिन्होंने महामहिम की महिमा को अपनाया, वे सदा के लिए अभय हो गये, विश्राम पा गये और प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस देने में तत्पर हो गये। यह उन्हीं की महिमा है। उनसे

आत्मीय सम्बन्ध अपना लेने पर किसी और की आस्था ही नहीं रह जाती। प्रेमास्पद से भिन्न की आस्था ही अभाव को जन्म देती है। अतः यह स्वीकार करो कि सर्वरूप में वे ही हैं; सभी अवस्थाओं में वे ही हैं; सभी परिस्थितियों में वे ही हैं; वस्तु, व्यक्ति, देश-काल में वे ही हैं। तुम हो उनकी अगाध प्रियता। प्रियता से ही उन्हें रस मिलता है।

सद्गुरु-वाक्य के आधार पर मिली हुई आत्मीयता से ही प्रियता उदय होती है। तुम्हारे प्रेमास्पद सदैव तुम्हीं में हैं, तुम्हें देख रहे हैं। वे कभी-भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं करते। तुम भी अपनी दृष्टि में किसी और को स्वीकार न करो। बस, और कुछ करना शेष नहीं है। सर्वदा अभय रहो, निश्चिन्त रहो, शान्त रहो। प्रसन्न रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

२०७

बहराइच
३०-३-६८

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रभु के नाते प्रभु-प्रेम के लिए प्रभु के दिये हुए बल का प्रभु की अहैतुकी कृपा से सदुपयोग होता रहे। प्रभु सदैव हैं, सर्वत्र हैं, तुम्हीं में हैं। उनको पाकर और कुछ पाना नहीं है।

उनके हो जाने पर और कुछ करना नहीं हैं। उनकी अखण्ड स्मृति में ही जीवन है, और कहीं जीवन नहीं है। प्रभु अपना प्रेम प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

२०८

श्रीवृन्दावन
१०-७-६८

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को प्रेम का दान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

मानव का निर्माण प्रभु ने अपने में-से अपने लिए किया है। सृष्टि का निर्माण भले ही मानव के लिए हो, किन्तु मानव का निर्माण तो उन्होंने अपने ही लिए किया है। कारण कि, मानव ही को प्रभु ने यह सामर्थ्य दी है कि वह निज-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर मिले हुए और देखे हुए से निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर जब चाहे तब जीवन-मुक्त हो जाय और बुराई का उत्तर भलाई से देकर जगत् के काम आ जाय और स्वयं भलाई के अभिमान तथा फल की कामना से रहित होकर

बुराई-भलाई से अतीत प्रभु के दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाय और मुक्ति से भी मुक्त होकर विश्वासपूर्वक शरणागति को अपनाकर प्रभु को प्रभु का दिया हुआ प्रेम देकर प्रभु के काम आ जाय। क्या कहूँ ! मानव सेवा संघ भी प्रभु का ही है। इस कारण संघ की सेवा प्रभु की निज सेवा है।

ओ३म् आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!! ❁

अकिंचन

.....

२०६

श्रीवृन्दावन
१६-७-६८

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमती,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

शरणागत साधक को तो प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का ही दर्शन करना है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है तथा उन्हीं के नाते सभी को आदर देते हुए सभी के प्रति सद्भाव रखना है। प्रेमास्पद के प्रेम की माँग सबल तथा स्थायी होती रहे। उसकी पूर्ति तो प्रेमास्पद की कृपा पर ही निर्भर है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

अकिंचन

.....

२१०

श्रीवृन्दावन

२६-७-६८

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर शरणागति स्वीकार की, वे सभी उनके प्रेम-धन को पा गये। शरणागत के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, शरणागत का जीवन अनन्त की महिमा से भरपूर हो जाता है।

वे तुम्हारे काम आते हैं, इसे तो तुम जानती हो, और मानती भी हो। पर तुम अनुभव करती हो कि तुम उनके काम नहीं आतीं। तुम उनसे बराबरी न करो। वे स्वयं तुम्हें अपने काम के योग्य बनायेंगे। उनकी महिमा को अपनाओ और अभय हो जाओ।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२११

श्रीवृन्दावन
३१-७-६८

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

साधकों की सेवार्थ संकेत भाषा में कुछ चर्चा लिख रहा हूँ। आप उसे भलीभाँति समझ लेंगी और आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करेंगी।

साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु सेवा करने वाले साधक को इस बात का ध्यान रहे कि वह सेवा करने से अन्य साधकों की अपेक्षा अपने को विशेष न मान ले और साध्य के स्थान पर स्वयं अपने व्यक्तित्व की पूजा न कराने लगे। यही मानव सेवा संघ की नीति है।

मानव सेवा संघ मानव मात्र को स्वाधीनतापूर्वक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। साधक और साध्य के बीच किसी और को सहायक नहीं मानता है। साध्य की आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीय सम्बन्ध साधक को साध्य से अभिन्न कराता है, अथवा यों कहो कि सत्संग के द्वारा प्रत्येक साधक साधननिष्ठ हो सकता है और सत्संग साधक का स्वधर्म है।

साधक को स्वधर्म की प्रेरणा देना और साधक एवं साध्य का आत्मीय सम्बन्ध दृढ़ करना प्रभु-विश्वासी साधक-समाज की वास्तविक सेवा है। यह आपको विदित ही है कि आज का

साधक कुछ-न-कुछ करना चाहता है। करने की बात शरीर के सहयोग के बिना हो नहीं सकती। इस कारण स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—तीनों शरीरों से प्रभु-विश्वासी साधक को साध्य की पूजा करना है और 'स्व' के द्वारा स्तुति, उपासना और प्रार्थना करना है।

स्थूल शरीर के सहयोग से वर्त्तमान कर्त्तव्य-कर्म के रूप में प्रभु की पूजा की जाय और सूक्ष्म शरीर के द्वारा प्रिय के नाम का आश्रय लेकर चिन्तन के रूप में पूजा की जाय। मन और प्राण दोनों के द्वारा प्रिय का प्रिय नाम लेना चाहिए। प्राण समस्त क्रियाशक्ति का केन्द्र है और मन इच्छाओं का प्रतीक है। प्राण और अपान, अर्थात् भीतर जाने वाली श्वाँस और बाहर आने वाली श्वाँस—भीतर जाने वाली श्वाँस को 'प्राण' और बाहर आने वाली श्वाँस को 'अपान' कहते हैं।

प्राण अपने प्राणाधार में सहज भाव से विलीन होता है, भीतर और बाहर। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि स्थिति के बिना गति नहीं होती। प्राण और मन द्वारा प्रिय के नाम का उच्चारण करना है। प्रिय का आधा नाम जाते और आधा नाम आते हुए लेना है। मन की वाणी से बोलना, मन के कानों से सुनना और मन की आँखों से देखना है। परन्तु जहाँ प्राण अपने-आप अपने प्राणेश्वर में लय हो, वहीं नाम के द्वारा मन की क्रिया का भी लय हो। लय होते समय समर्पण भाव रखना है। क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है। मानसिक क्रिया समाप्त होते ही स्थिति के रूप में कारण शरीर के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा होती है। यह रहस्य कुछ काल पूजा करने से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा तो बातचीत द्वारा ही हो सकती थी, परन्तु वह तो, जब कभी प्रभु की अहैतुकी कृपा से अवसर आयेगा, तभी हो सकेगी।

आज प्रातः की बैठक में उपर्युक्त चर्चा सविस्तार की गई थी। प्रेरणा हुई कि उसका अंश आपकी सेवा में भेज दिया जाय। जब तीनों शरीरों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा होने लगती है, तब करने का प्रश्न हल हो जाता है।

अब रही स्तुति, उपासना और प्रार्थना की बात। स्तुति तभी हो सकती है, जब सर्व काल में, सर्व देश में, सर्वदा प्रेमास्पद के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और फिर उनकी महिमा को स्वीकार किया जाय। प्रभु की महिमा का कोई वारापार नहीं है। संकेत में यही कहा जा सकता है कि वे सभी को अपना लेते हैं और उन पर कोई विजयी नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रभु अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक को अपनी महिमा से ही योग, बोध, प्रेम प्रदान करते हैं। उनकी उदारता की बात कहाँ तक कही जाय! स्वयं प्रेमियों के प्रेमी हो जाते हैं। उनकी महिमा के सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय, कम है। और की तो बात ही क्या है, वेद भगवान् भी उनकी महिमा का वर्णन नहीं कर सके।

अब आप भली प्रकार समझ जाएगीं कि उनके महत्व और अस्तित्व को स्वीकार करना स्तुति है। यह शरीर-धर्म नहीं है। स्तुति सजीव होते ही उपासना अर्थात् प्रेमास्पद से जातीय, नित्य और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना सिद्ध होता है। उपासना सिद्ध होते ही अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता स्वतः

होती है, अर्थात् प्रेमास्पद के प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जो वास्तव में प्रार्थना है।

अपने द्वारा स्तुति, उपासना और प्रार्थना की जाय। शरीरों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा की जाय। ऐसा करते ही प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की लीला का ही दर्शन होता है और फिर समस्त जीवन साधन हो जाता है। लीलामय प्रेमीजनों को अपना परिचय देने के लिए लीला करते हैं। उनकी लीला में ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य का ही संकेत होता है। लीलाओं का बाह्य रूप कुछ भी हो, परन्तु अर्थ इतना है कि वे समर्थ हैं, सभी को अपनाते हैं और अपने सौन्दर्य से सभी को आकर्षित कर प्रेम-विभोर कर देते हैं।

लीलामय भगवान् तुम्हें अपनी लीला का दर्शन कराते रहें और अपने प्रेम से तुम्हारे जीवन को भरते रहें, जिससे तुम उनके प्रेमियों की सेवा करती रहो—इसी सद्भावना के साथ पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ओ३म् आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

२१२

श्रीवृन्दावन
५-८-६८

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

मानव सेवा संघ जो साधकों का संघ है, उसकी सेवार्थ जब तक शरीर की आवश्यकता रहेगी, अवश्य रहेगा। प्रभु अपना काम कराने के लिए आवश्यक सामर्थ्य देते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। शरीर के न रहने पर भी सेवा का भाव ज्यों-का-त्यों प्रभु के संकल्प में विलीन होकर कार्य करता ही रहता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही साधक जान पाते हैं।

साधन-तत्व साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है। इतना ही नहीं, वह साध्य के समान अविनाशी भी है। ज्यों-ज्यों साधक में साध्य की प्रियता की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न होता जाता है। इस दृष्टि से साध्य की प्रियता की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

साधक के जीवन में निराशा तथा असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक साधक साधननिष्ठ हो जाय, यह अनन्त का अपना संकल्प है। इस कारण जो साधक निराश नहीं होता, अपितु साध्य की उपलब्धि के लिए नित-नव उत्साह को अपनाता है और धीरजपूर्वक प्रतिकूलताओं को सहन

करता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-निष्ठ हो जाता है। प्रभु के संकल्प में अपने सभी संकल्प विलीन हो जायें, बस यही लक्ष्य की प्राप्ति का अचूक उपाय है।

अपने में अपना करके कुछ है ही नहीं, इस वास्तविकता को अपनाकर अपने को सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। निश्चिन्तता में अपूर्व सामर्थ्य विद्यमान है। निर्भयता आते ही प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से शरणागत साधक को सदैव निश्चिन्त तथा निर्भय रहना अनिवार्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। वे सदैव तुम्हारे हैं। इतना ही नहीं, तुम उन्हीं में हो और वे तुम्ही में हैं। अन्तर केवल इतना है कि तुम प्रीति हो और वे प्रियतम। प्रीति और प्रियतम का नित्य-विहार ही वास्तविक जीवन है।

पूजा करो शरीर से 'स्व' से कर सत्संग।
तब तुम पावोगी सदा, निज प्रियतम को संग॥

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

... .

२१३

श्रीवृन्दावन
१७-८-६८

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमती श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई प्रत्येक दशा में आनन्दित रहो !

प्रत्येक कार्य समस्त विश्व के हित के भाव से किया जाय, तो फिर कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। कारण कि, प्यारे प्रभु की योगमाया उसके अनुकूल हो जाती है। अपने सुख तथा अपनी हितकामना से प्रेरित होकर कार्य करना भूल ही है। सुख में तो बन्धन है ही, पर अपना हित सभी के हित से अलग मानना भी प्रमाद ही है। सभी के हित में ही अपना हित है, इस वास्तविकता को अपनाकर ही प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म तथा जप, तप आदि करना चाहिए। अपने हित के लिए किया हुआ ध्यान भी बन्धन ही है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने माया और मायाधीश से अविभाज्य सम्बन्ध स्वीकार किया है।

प्रेमास्पद पूर्ण होने से अचाह हैं, अर्थात् वे सब प्रकार से पूर्ण हैं, उन्हें कुछ नहीं चाहिए और मानव उदार तथा प्रेमी होने के नाते चाह-रहित है। इस दृष्टि से मानव की अनन्त से ही वास्तविक एकता है। अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं। किन्तु आत्मीयता से जागृत प्रियता के बिना इस वास्तविकता का बोध नहीं होता।

आज स्नेह-निर्मित यशोदा जी और आनन्दघन को भी आनन्दित करने वाले गोलोकवासी श्यामसुन्दर के नित्य परिकर अनन्त को अपनी गोद में पाकर अत्यन्त प्रसन्न हैं और याचकों को सब कुछ लुटा रहे हैं। हम लोग भी अपने मैया-बाबा से प्रेमास्पद के प्रेम की भिक्षा माँगें। मिलेगी अवश्य। इस शब्द का अर्थ बहुवचन है। कोई भी शरणागत प्रेमीजनों के लिए प्रेम की भिक्षा माँग सकता है और प्रेमास्पद के प्रेमी उदारतापूर्वक दे सकते हैं। ऐसा मेरा विश्वास है। वास्तव में तो जिस किसी को जो कुछ मिला है वह अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर ही दिया है। किन्तु जो उनके प्रेमी हैं, वे भी प्रेम-धन देते हैं। यद्यपि सभी में सब कुछ प्रेमास्पद का ही है, परन्तु प्रेमीजनों की मांग को पूरा करने में प्रेमास्पद को हर्ष ही होता है। यह उनका सहज स्वभाव है।

ज्यों-ज्यों शरणागत शरण्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उसे उनकी अहैतुकी कृपा का स्वतः अनुभव होता है। उनसे भिन्न का अस्तित्व एवं महत्व न रह जाय और उनसे अविचल अपनत्व हो जाय, यही शरणागत की माँग है। माँग का अनुभव करना साधक का स्वधर्म है, और उसको पूरा करना साध्य का सहज स्वभाव है। तो फिर साधक के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए। उत्साह सबल तथा स्थायी होने पर समस्त जीवन एकनिष्ठ हो जाता है। एकनिष्ठता में ही सफलता निहित है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२१४

श्रीवृन्दावन

२९-८-६८

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत दिव्य ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो—इसी सद्भावना के साथ सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह !

भयहारी हरि ने रोग का भय मिटा दिया, तो रोग को भी मिटा देंगे। शरीर विश्व की सेवा-सामग्री है, उससे अपने को कुछ भी नहीं लेना है। यह वास्तविकता जीवन में आ जाने से शरीर को बनाये रखने का भी संकल्प नहीं रहता। प्रभु के संकल्प से यंत्रवत् शरीर के द्वारा आवश्यक कार्य मंगलमय विधान से होता रहता है। वास्तविक सेवा तभी होती है, जब प्रभु के संकल्प में अपना संकल्प विलीन हो जाय। जिसे अपने लिए कुछ भी करना नहीं है, उसके सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जाते हैं। साधक को संसार से कुछ भी नहीं लेना है, अपितु संसार के लिए उदार होना है।

अब रही अपने और प्रेमास्पद के बीच की बात। प्रेमास्पद ने जो आवश्यक है, बिना ही मांगे दे दिया है, अतः उनसे भी कुछ मांगने की बात नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेमास्पद के प्रेम में जो जीवन है,वही अनुपम अलौकिक अद्वितीय जीवन है। इस कारण साधक को जगत् के प्रति उदार, प्रभु के प्रति प्रेमी और अपने प्रति अचाह होना है। यही मानव-दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ की दीक्षा है। अर्थात् मानव-मात्र को य

महाव्रत लेना ही होगा, तभी सोई हुई मानवता जगेगी और मानव सेवा, त्याग, प्रेम से भरपूर हो जायेगा।

सेवा, त्याग, प्रेम में ही विश्वशान्ति, जीवन-मुक्ति एवं अनन्य भक्ति निहित है, जिसकी प्राप्ति तभी होती है, जब मानव उपर्युक्त व्रत को स्वीकार करता है। व्रती जीवन ही मानव-जीवन है। व्रत को पूरा करने के लिए तप, प्रायश्चित्त और प्रार्थना को अपनाना आवश्यक है। मानव के रचयिता ने मानव को इसी उद्देश्य के लिए निर्माण किया है कि वह जगत् के प्रति उदार, अपने प्रति अचाह और प्रभु के लिए प्रेमी हो जाय। यह मानव की माँग और प्रभु का संकल्प है। इसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से मांग की पूर्ति के लिए साधक के जीवन में नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहना चाहिए। उत्साह-हीनता के समान और कोई प्रमाद नहीं है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

२१५

नई दिल्ली
१९-२-६९

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई उनके कार्य में दत्त रहो।

जिन साधकों ने प्यारे प्रभु का कार्य किया, वे सभी उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपने प्यारे के प्रत्येक कार्य को समान महत्व दिया है और प्रभु-विश्वास को अपनाकर अभय हो गये हैं। प्रभु-विश्वास में एकमात्र प्रभु की ही अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। प्रभु-प्राप्ति में प्रभु-विश्वास ही अचूक उपाय है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। प्रभु का नाम, प्रभु का काम, प्रभु का ध्यान समान अर्थ रखते हैं। जिस साधक को जिसमें अधिक रुचि हो उसे अपनाये और सब प्रकार से उन्हीं का हो जाये। बस, यही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है।

प्रभु-विश्वास में बड़ी ही अलौकिक और अपूर्व सामर्थ्य है। क्या कहा जाय! भाषा असमर्थ है प्रभु-विश्वास की महिमा को बताने में। प्रभु-विश्वासी की दृष्टि में सृष्टि ही नहीं रहती। कारण कि, उसमें किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। उन्हीं का अस्तित्व, उन्हीं का महत्व और उन्हीं में अपनत्व रह जाता है, जो योग, बोध, प्रेम का प्रतीक है। शान्ति, मुक्ति तो प्रभु-विश्वासी के पीछे-पीछे दौड़ती है, उसे पकड़ नहीं पाती। और भक्ति उसका जीवन हो जाती है। भक्ति से ही सर्व-समर्थ

प्रभु को रस मिलता है। प्रभु-विश्वासी की भक्ति से भिन्न कोई और माँग नहीं रहती, तो फिर किसी प्रकार की अपने प्रेमास्पद से दूरी, भेद, भिन्नता कैसे रह सकती है ! अर्थात् लेशमात्र भी नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास में ही जीवन है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२१६

गीता भवन

६-५-६९

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो !

यह जीवन उनके काम आ जाय, अर्थात् उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता से भरपूर हो जाय—यही मानव की माँग है। उदारता के बिना विश्व-रूप में उनकी सेवा हो नहीं सकती। प्रियता की अभिव्यक्ति के लिए स्वाधीनता अनिवार्य है। कारण कि, पराधीनता में आबद्ध प्राणी प्रेमी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में उदारता और स्वाधीनता की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से प्रियता उदित तो होती है, किन्तु स्वाधीनता के बिना प्रीति का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता नहीं है। इस कारण

स्वाधीन होना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परम स्वतन्त्र की शरणागति स्वीकार करने पर भी साधक को प्रसाद में स्वाधीनता मिलती है। इतना ही नहीं, वे सदैव शरणागत को स्वाधीन ही देखना पसन्द करते हैं। यह उनकी सुहृदयता है। वे कितने अच्छे हैं! किसी भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनकी महिमा की कोई सीमा नहीं है। इस सम्बन्ध में जिस किसी ने कहा है, कम है।

हाँ, उन्हीं के दिये हुए विवेक के सदुपयोग से भी मानव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु स्वाधीनता पाकर कृतकृत्य हो जाना प्रेमी को नहीं भाता। उसे तो प्रेमास्पद की प्रियता ही प्यारी लगती है। उसी से प्यारे को रस मिलता है। प्रभु-विश्वासी साधक सभी प्रियजनों को प्रेमास्पद के समर्पित कर सदा के लिये निश्चिन्त हो जाता है। प्रभु-विश्वासी के जीवन में भय तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। इतना ही नहीं, प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। कारण कि, प्रभु-विश्वास में सर्व-समर्थ प्रभु की कृपाशक्ति ही विद्यमान है, और वही प्रभु-प्राप्ति में हेतु है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

२१७

श्रीवृन्दावन
२९-८-६९

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। वे ही एक मात्र अपने हैं और सब उन्हीं का है। उनकी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता ही प्रभु-विश्वासी का जीवन है। जो कुछ हो रहा है, उसमें उन्हीं की लीला को देखो और प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग के द्वारा उनकी पूजा करो। जहां रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

तुम्हारे और उनके बीच उत्तरोत्तर प्रीति बढ़ती रहे, जिससे तुम उनके काम आ जाओ और उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से उनकी बाटिका की सेवा करो। प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में किसी और का अस्तित्व ही नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखो। और निरन्तर नित-नव प्रियता पूर्वक प्रिय को लाड़ लड़ाती रहो। यही इस जीवन की सार्थकता है।

सभी संकल्प सर्व-समर्थ प्रभु के संकल्प में विलीन कर सदा के लिए निस्संकल्प हो जाओ। निस्संकल्पता ही एकमात्र मानसिक द्वन्द्व मिटाने का अचूक उपाय है। सजग मानव को अपना शरीर संसार-रूपी बाटिका की खाद बना देनी चाहिए। यही मानव-जीवन की सार्थकता है। खाद वृक्षों को हराभरा बनाती है, फल-फूल से सम्पन्न करती है और वह अपने को मिटाकर

वृक्षों के काम आती है। उसी प्रकार मानव सर्व-समर्थ प्रभु का होकर उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का हर्षपूर्वक सदुपयोग कर बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। अतः प्रत्येक साधक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा साधन-निष्ठ होने में सर्वदा समर्थ है। परिस्थितियों की दासता में आबद्ध हो जाना तथा परिस्थितियों से भयभीत होना भारी भूल है। इसका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है।

सत्संग के द्वारा सभी साधकों के साधन का निर्माण हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है। सत् का संग हमें उदार होने की, अचाह होने की और प्रेमी होने की प्रेरणा देता है। जानी हुई तथा की हुई बुराई का त्याग करते ही उदारता स्वतः आ जाती है। निज-ज्ञान के प्रभाव से मानव अचाह तथा श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक शरणागति से प्रेम को पाकर प्रेमास्पद के लिए उपयोगी होता है। वास्तविक जीवन से निराश होना, हार मानकर बैठ जाना भारी भूल है, जिसे साधक को शीघ्रातिशीघ्र मिटा देना चाहिए। यह मांग अनुभव करना साधक का काम है और उसकी पूर्ति प्रभु के मंगलमय विधान से स्वतः होती है।

शारीरिक स्थिति, जो लिखते समय है, वह पढ़ते समय तक रहेगी ही, यह कोई विधान नहीं है। इस कारण शरीर के सम्बन्ध में कहना-सुनना कुछ अर्थ नहीं रखता। इसकी ओर से निरुपाय होकर निर्भय रहना ही मूल मंत्र है।

सर्व-समर्थ प्रभु औषधि का विश्वास देना ही नहीं चाहते और हम लोग औषधि का पीछा ही नहीं छोड़ना चाहते। देखो,

किसकी जीत होती है? जो हो रहा है, उसी में मंगल है। प्यारे प्रभु तुम्हें अपनी प्रियता प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

२१८

श्रीवृन्दावन
३०-८-६९

परम भागवत प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

क्या तुम नहीं जानतीं कि प्यारे परम करुणामय हैं, उनकी ओर से जो कुछ होता है वह मंगलकारी है ? प्यारे की दी हुई पीड़ा क्या कभी अहितकर हो सकती है ? वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता प्रदान करते रहें, जिससे शरीर और सृष्टि की विस्मृति हो जाय। प्यारी पीड़ा शरीर की वास्तविकता का बोध कराती हुई साधक को अखण्ड स्मृति की प्रेरणा देती है। स्मृति की शिथिलता में ही साधक शरीर और सृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है। हाँ, यह अवश्य है कि पीड़ा से प्रियजनों के हृदय में व्यथा होती है।

उस व्यथा से व्यथित होकर सहज भाव से होने वाले उपचार को प्रभु-प्रसाद के रूप में स्वीकार कर ही लेता हूँ। क्या अपने से अपनी कोई बात छिपी है, जो उनसे कही जाय ? उनके अपनेपन से भिन्न भी कोई अपना अस्तित्व है ? वे सर्व-समर्थ हैं। वे अपनापन स्थायी रूप से बनाये रखें और अपनी दी हुई प्रियता से अपनी पूजा कराते रहें। उनकी प्रियता से भिन्न और कुछ जीवन है ही नहीं। वे कितने दयालु हैं कि असह्य पीड़ा में भी नींद आती है, भूख लगती है और चर्चा करता हूँ। इसके अतिरिक्त क्या और माँगा जाय, भला तुम्हीं बताओ ? हम सभी साधकों को, जैसी प्यारे की मौज हो, उसी में मस्त रहना चाहिए। शरणागत को सदा के लिए बेमन का हो जाना चाहिए। अपने मन की कराते-कराते अनेक जन्म बिताये। इस जन्म का भी बहुत भाग बीत गया। अब तो वे ऐसी कृपा करें कि उन्हीं के मन की बात पूरी होती रहे।

सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम लोगों को अपनी आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

२१९

श्रीवृन्दावन
३-९-६९

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत प्रीतिस्वरूपा,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

क्या अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक है ? शुद्ध विश्वास, शुद्ध सम्बन्ध और शुद्ध मांग अनुभव करने पर क्या कभी साधक और साध्य में दूरी, भेद, भिन्नता रह सकती है ? कदापि नहीं। इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करो और अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर तथा उन्हीं की प्रीति होकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाओ।

श्री गुरुचरणों में अगाध प्रीति होने से गुरु-वाक्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही जान पाते हैं। गुरु-तत्व से अभिन्नता होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। गुरु का दिया हुआ विश्वास तथा सम्बन्ध अपना जीवन हो जाय, यही गुरु-तत्व से अभिन्नता है। जब साधक के जीवन में अन्य विश्वास की गन्ध भी नहीं रहती, तब स्वतः आत्मीय सम्बन्ध से जागृत अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदित होती है।

विश्वासी साधकों ने अपने विश्वास-पात्र से भिन्न के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं किया, तभी वे बड़ी सुगमतापूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर सके। जो कुछ दिखाई दे रहा है, उसमें किसी और की सत्ता नहीं है। अपने ही प्रेमास्पद अनेक रूपों में अनेक प्रकार की लीला कर रहे हैं अथवा यों कहो कि किसी-न-किसी रूप में प्रीति और प्रियतम का ही नित्य-विहार हो

रहा है। क्या लोभी की प्रीति स्वभाव से धन में नहीं होती ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में जो आकर्षण है वह उन्हीं का है, जो उसका अपना है।

साधक अनेक में एक को स्वीकार करता है। इस कारण उसकी दृष्टि में अपने साध्य से भिन्न कोई और नहीं रह जाता। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब अपना कुछ न रह जाय, अपितु प्रेमास्पद की प्रियता ही अपना जीवन हो जाय। साधक को जो अभिनय मिला है उसे विधिवत् पूरा करते हुए लीलामय की लीला से अभिन्न हो जाना चाहिए। समस्त सृष्टि उन्हीं की लीलास्थली है और कुछ नहीं। इसमें जो अभिनय मिला है, उसे पूरा करो। अभिनय का अन्त लीलामय की प्रियता में होना चाहिए। प्रियता से भिन्न तुम्हारा कोई और अस्तित्व नहीं है। इस वास्तविकता को अपनाओ और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में प्रवेश पा जाओ—यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुम दोनों को सप्रेम भेंट तथा बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२२०

श्रीवृन्दावन

५-९-६९

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

प्रत्येक प्रभु-विश्वासी साधक को प्रभु की महिमा को अपना कर सब प्रकार से उनका होकर सदा के लिए निश्चित तथा निर्भय हो जाना अनिवार्य है। चिन्तित तथा भयभीत होने से साधक की बड़ी ही क्षति होती है। कारण कि, चिंता और भय से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है। इस प्रमाद से साधक इतना असमर्थ होता है कि जो कर सकता है वह भी नहीं कर पाता। अतः साधक के जीवन में चिन्ता और भय के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

ज्यों-ज्यों साधक चिन्ता और भय से रहित होता जाता है, त्यों-त्यों अनन्त के मंगलमय विधान से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती जाती है। पूर्ण निश्चिन्त तथा निर्भय होने से साधक में उस अलौकिक, अनुपम सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से अपने-अपने ढंग से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र चिन्ता तथा भय से रहित हो जाना चाहिए। जब मानव का सर्व-समर्थ अपना है, तब उसके जीवन में चिन्ता तथा भय नहीं रहना चाहिए। यदि कोई विचार-पथ का साधक हो, तो भी निर्मम, निष्काम तथा असंग होने से चिन्ता तथा भय नहीं रह सकता।

यदि कोई भौतिकवादी साधक हो, तो भी अकर्त्तव्य को त्याग, कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर चिन्ता तथा भय से मुक्त हो जाता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि साधक के जीवन में चिन्ता तथा भय का कोई स्थान ही नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। साधक साधन-सामग्री के उपयोग से साधन-निष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है। साध्य स्वभाव से ही परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं प्रेम से भरपूर हैं। उनकी उदारता की कोई सीमा नहीं है, प्रेम का कोई पारावार नहीं है, एवं वे सब प्रकार से स्वतन्त्र तो हैं ही। तभी उन्होंने मानव को साधन-निष्ठ होने की सदैव स्वाधीनता दी है। उस पर भी यदि हम साधन-निष्ठ नहीं होते, तो हमारी ही भारी भूल है, जिसका सत्संग के द्वारा अन्त करना अनिवार्य है।

यदि साधक को स्वाधीनता भा जाय, तो स्वाधीन होते ही उसमें स्वत: मंगलमय विधान से उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक और साध्य में जातीय एकता है। जिनमें जातीय एकता है, उन्हीं में आत्मीय सम्बन्ध रहना चाहिए। तभी अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होगी, जो वास्तव में साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है।

सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हें आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२२१

श्रीवृन्दावन

९-९-६९

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

दबी हुई नीरसता का अन्त मधुर स्मृति से ही हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। शरीर और संसार का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए कोई भी नीरसता तथा अभाव से रहित नहीं हो सकता। प्रभु-विश्वास तथा प्रभु-सम्बन्ध ही अभाव का अभाव तथा नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। शरीर और संसार का सम्बन्ध तो किसी भी सजग मानव को नहीं रखना चाहिए। समस्त विश्व विश्वनाथ का संकल्प ही है, और कुछ नहीं। और वे ही मानव के अपने हैं। इस वास्तविकता को अपनाये बिना कभी-भी किसी को शान्ति, मुक्ति, भक्ति नहीं मिलती।

अतः प्रभु-विश्वास ही एकमात्र अपनाने योग्य है। अन्य विश्वास का त्याग अनिवार्य है। इस तथ्य को जानकर शीघ्रातिशीघ्र विचारपूर्वक शरीर और संसार के सम्बन्ध का त्याग और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु-विश्वास को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि संसार के सम्बन्ध के त्याग से भी मानव अभय तथा स्वाधीन होता है। परन्तु प्रभु-विश्वास के द्वारा एक अनुपम अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। यद्यपि निर्भयता तथा स्वाधीनता में भी रस है; जीवन है, परन्तु आत्मीयता से

अभिव्यक्त अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता में रस का पारावार नहीं है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

२२२

श्रीवृन्दावन
१५-९-६९

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति प्रीतिस्वरूपा

सर्वदा सर्व भाव से अनेक रूपों में एक ही को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

समस्त मानसिक रोगों की निवृत्ति एकमात्र मेरे जानते तभी हो सकती है, जब साधक अपने द्वारा सर्व-समर्थ प्रभु के पावन विश्वास को अपनाकर वर्तमान परिस्थिति का आदर-पूर्वक सदुपयोग कर सके, और सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन में अविचल आस्था करे और अपने को उसका अधिकारी मान ले। कारण कि, सर्वोत्कृष्ट जीवन में मानव-मात्र का जन्मजात् अधिकार है। यह मानव के रचयिता का अपना संकल्प है। वे सत्य-काम, सत्य-संकल्प हैं। अपने करने की बात पूरी करने पर समस्या अवश्य हल हो जाती है, ऐसा प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् बल नहीं है। कारण कि, वे सदैव हैं, सर्वत्र हैं समर्थ हैं, और विश्वास में उन्हीं का बल है। अथवा यों कहो, अपने विश्वास के अधीन हैं।

उनके विश्वास के महत्व को भूल जाने से ही जीवन में निराशा तथा भय उत्पन्न होता है। परन्तु उनके विश्वास का उपयोग वास्तविक माँग की पूर्ति में करना सार्थक होता है। ऐसा मेरा अनुभव है। तुम्हें शरीर की पीड़ा से पीड़ित नहीं होना चाहिए, अपितु उसे प्यारे का दिया हुआ तप मानकर धीरजपूर्वक शान्त रहना चाहिए। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे— इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२२३

श्रीवृन्दावन

२१-११-६९

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

सच तो यह है कि सतत् प्राणशक्ति व्यय हो रही है, इसमें दो मत नहीं हैं। अतः प्राणों के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त हो जाना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब कि शरीर का सदुपयोग करते हुए इसके बनाये रखने का संकल्प सदा के लिए नाश हो जाए। पर सर्वसाधारण तो इस सत्य को सुन कर घबड़ाते हैं, अपनाने की तो बात ही कहाँ है। यद्यपि सत्य को अपनाये बिना कोई भी कभी-भी असाधन

से रहित होकर साधन-निष्ठ नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सत्य के अपनाने से वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं होता, अपितु परम हित ही होता है। जीवन अपने में है। उसकी माँग उसकी प्राप्ति का उपाय है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना ही होगा।

जीवन की माँग काम को खाकर साधक को देहाभिमान से रहित कर देती है और वह फिर स्वतः पूरी हो जाती है। तो फिर साधक के जीवन में निराशा, भय और चिन्ता आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति ही वास्तविक साधना है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग अर्थात् स्वयं के द्वारा सत् को स्वीकार करना। वह स्वीकृति ही साधना में परिणत हो जाती है और फिर साधना साध्य से अभिन्न कर देती है। साधना और साध्य में जातीय एकता है, अर्थात् साधना साध्य का ही स्वभाव है।

साधक की जो वास्तविक माँग है, वही साध्य का स्वरूप है। इतना ही नहीं, सत्ता रूप से साध्य से भिन्न कुछ है ही नहीं। जिसने साध्य से भिन्न के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार किया, उसने बड़े ही सहज भाव से सर्वांश में सदा के लिए असाधन का अन्त कर दिया। अतः अपने लिए प्रेमास्पद से भिन्न कोई और है ही नहीं। इस वास्तविकता को अपनाओ और उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं से लाड़ लड़ाओ, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२२४

पटना
१३-१-७०

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा करती हुई उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। उनसे भिन्न किसी और का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इतना ही नहीं, वे ही परम स्वतन्त्र हैं और परम उदार तथा परम प्रेमी हैं। तुम उन्हीं की हो—यह बात वे जानते हैं और तुम मानती हो। तो फिर जीवन में भय, चिन्ता, निराशा आदि के लिए कोई स्थान ही कहाँ है!

प्रभु-विश्वासी साधक का अपना कोई संकल्प नहीं है। तो फिर निर्विकल्प स्थिति सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है और फिर आवश्यक संकल्प पूजा-भाव से पूरे होते रहते हैं। किन्तु प्रेमीजन निर्विकल्पता की शान्ति में रमण नहीं करते। प्रभु की अहैतुकी कृपा फिर उन्हें मुक्ति प्रदान करती है। परन्तु प्रेमीजन मुक्ति से मुक्त होकर स्वतः भक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। भक्ति में अलौकिक, अद्वितीय, अनुपम रस है, जिससे जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी हो जाता है।

शान्ति और मुक्ति भक्ति के पीछे-पीछे दौड़ती हैं। इस दृष्टि से भक्ति-तत्व की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है, यह सद्गुरु-वाक्य है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था ही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वास में सामर्थ्य प्रभु की ही होती है। इस कारण प्रभु-

विश्वास प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का अचूक उपाय है। प्रियता की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय का अन्त हो जाय। भय तथा प्रलोभन से रहित साधक ही वास्तविकता को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। भय और प्रलोभन का मूल एकमात्र असत् का संग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, सतत् प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो—इसी सद्भावना के साथ।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२२५

इलाहाबाद
१४-१-७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई नित-नव रस का दान करती रहो, जिससे तुम्हारा पावन जीवन प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी हो जाय, यही मेरी सद्भावना है।

जो कुछ होगा, उसी में मंगल है। कारण कि, शरणागत के जीवन में किसी प्रकार का भय तथा प्रलोभन शेष नहीं रहता, अपितु नित-नव उत्साह एवं तत्परता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। निश्चिन्तता एवं निर्भयता उसका सहज

स्वभाव हो जाता है। परम स्वतन्त्र, परम उदार, प्रेम से परिपूर्ण प्यारे प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा शरणागत साधक को सब कुछ स्वतः देती रहती है। कारण कि, शरणागत शरण्य का अत्यन्त प्रिय है, और शरणागत का सर्वस्व शरण्य ही है। इस दृष्टि से शरणागति के समान और कोई सफलता की कुञ्जी नहीं है। कारण कि, भूल-जनित व्यथा ही व्यथा-निवृत्ति का अचूक उपाय है।

निर्बल के बल कभी भी निर्बल को ठुकराते नहीं हैं, अपितु अपनाते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। जिन्होंने उनके स्वभाव को उन्हीं की कृपा से अनुभव किया, वे सब प्रकार से उन्हीं के होकर उनके प्रेम के पात्र बन गये—इस वास्तविकता में शरणागत साधक को अविचल आस्था रखनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। पुनः सद्भावना सहित बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

अकिंचन

.....

२२६

श्रीवृन्दावन
२०-१-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

अनन्त की अहैतुकी कृपा से यहाँ सकुशल पहुँच गया। शरीर कैसा है, इसे तो वे ही जानें, जिन्होंने इसका निर्माण किया है। वास्तव में तो शरीर-रहित जीवन ही जीवन है। उसमें ही साधक की अविचल आस्था रहनी चाहिए। उस जीवन के बोध में ही मोह का नाश है। मोह-रहित होने पर ही साधक अभय होता है। इस दृष्टि से निर्मोहता प्राप्त किये बिना किसी भी साधक को किसी अन्य प्रकार से अपने को सन्तुष्ट नहीं करना चाहिए। निर्मोहता प्राप्त करने के लिए किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु विकास-काल में ही देहातीत जीवन का बोध होता है। श्रम शरीर से तादात्म्य जोड़ता है और विश्राम शरीर से असंग कर देता है। जितनी देर प्रभु का कार्य करना हो, उतनी देर शरीर का उपयोग करना है। कार्य का अन्त और असंगता की उपलब्धि एक साथ होती है। असंगता में ही अविनाशी जीवन से अभिन्नता है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

अविनाशी जीवन में ही स्वभाव से उदारता तथा प्रेम विद्यमान है। जो अविनाशी हैं, वे ही उदार तथा प्रेमी हैं। इस

कारण अविनाशी से अभिन्न होना अनिवार्य है। उदारता तथा प्रेम जिनका सहज स्वभाव है, वे ही अविनाशी तथा परम स्वतन्त्र हैं। जो स्वतन्त्र हैं, वे कभी शासक नहीं होते, और न किसी से शासित होते हैं। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर चिर-विश्राम प्राप्त किया है, अथवा शरणागत होकर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो गये हैं। निश्चिन्तता तथा निर्भयता में चिर-विश्राम है, और विश्राम में समस्त साधनों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। कारण कि, विश्राम अनन्त से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहने देता। अर्थात् योग, बोध, प्रेम विश्राम में ही निहित हैं। और यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति होती है, इस वास्तविकता में कभी भी विकल्प नहीं होना चाहिए। विकल्प-रहित माँग ही माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है।

माँग का अनुभव करना साधक का प्रयास और उसकी पूर्ति साध्य का सहज स्वभाव है। इस दृष्टि से साध्य कितने महान् हैं, उदार हैं, प्रेमी हैं! उसके व्यक्त करने के लिए कोई भाषा समर्थ नहीं है। अनन्त की महिमा अनन्त है। उसमें अविचल आस्था साधक का स्वधर्म है, जिसे अपना कर साधक स्वतः साधन-निष्ठ हो जाता है। साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता साध्य की अहैतुकी कृपासे प्रत्येक साधक को प्राप्त है। प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

स्वाधीनता का सदुपयोग निज-ज्ञान तथा अविचल आस्था से ही सिद्ध है। उसके लिए शारीरिक श्रम तथा किसी परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। तभी प्रत्येक साधक सिद्धि पा

सकता हैं। ज्ञान से निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त होती है, और आस्थापूर्वक शरणागति से निर्विकारता आदि का तादात्म्य नाश होता है। और फिर शरणागत में शरण्य से भिन्न कुछ रह नहीं जाता। शरण्य सदैव अपनी महिमा में अपने आप रमण करते हैं। और वही रमण प्रीति और प्रियतम का नित्य-विहार है। अतः साधक प्रीति होकर साध्यके लिए उपयोगी होता है, अर्थात् प्रीति की माँग ही साधक की अन्तिम माँग है। इसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२२७

श्रीवृन्दावन

२७-१-७०

अहैतुकी कृपा से निर्मित भक्तिमति श्रीप्रिया,

प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो और सब प्रकार से प्रेमास्पद की होकर, प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा उनकी पूजा करो और उन्हीं की प्रीति होकर रस प्रदान करती हुई सर्वदा प्रेम में डूबी रहो। यही मेरी सद्भावना है। तुम्हारा निज-स्वरूप प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। उसी का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है। इस दृष्टि से तुम सेवा, त्याग, प्रेम की मूर्तिमान चित्र हो। यह वास्तविकता सत्संग से साध्य है।

सत्संग मानव का स्वधर्म है। उसके लिए अपने को सर्वदा अथक प्रयत्नशील रखो, अर्थात् सत्संग के बिना किसी प्रकार

भी चैन से मत रहो। सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु मानव का अपना परम पुरुषार्थ है। अभ्यास शरीर-धर्म है और पुरुषार्थ स्वधर्म है। शरीर-धर्म लोकहित में हेतु है और स्वधर्म अपने कल्याण एवं परम प्रेम की प्राप्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से सत्संग के लिए ही सब कुछ किया जाता है। सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन सत्संग के बाह्य रूप हैं। 'स्व' के द्वारा सत्संग को स्वीकार करना सत्संग का वास्तविक स्वरूप है। मानव सेवा सङ्घ साधकों का संघ है। साधकों की सेवा सङ्घ की सर्वोत्कृष्ट सेवा है। इस दृष्टि से सत्संग-योजना ही सङ्घ का मुख्य प्रयास है। शरीर निरन्तर कालरूपी अग्नि में जल रहा है। उसके बिना जो कर सकती हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र कर डालो।

शरीर के बिना साधक अचाह हो सकता है, प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध जोड़ सकता है; की हुई, जानी हुई बुराई से रहित होने का व्रत ले सकता है; प्रभु-विश्वास के आधार पर अभय हो सकता है। प्रभु-प्रेम से साधक प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास महान् अवलम्बन है। उसे अपनाकर साधक साध्य से अभिन्न हो सकता है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई सहज, स्वाभाविक प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय नहीं है। यह विश्वासी साधकों का अनुभव है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२२८

कानपुर
३१-१-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

सदैव अपने ही में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

प्रीति से भिन्न तुम्हारा और कोई अस्तित्व है ही नहीं। कारण कि,तुम प्रेमास्पद की नित्य-प्रिया हो। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था करो। जो साधक वेदवाणी अथवा सद्गुरु-वाक्य के आधार पर यह स्वीकार कर लेता है कि मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, कारण कि, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुझे मानव-जीवन मिला है; इस जीवन का कोई और उद्देश्य ही नहीं है; सुख-दुःख तो केवल साधन सामग्री के रूप में अपने-आप आते-जाते रहते हैं; उनका सदुपयोग करते हुए निस्सन्देहतापूर्वक यह स्वीकार कर लिया जाय कि अभाव, पराधीनता, नीरसता, जड़ता आदि बिकारों से रहित जो जीवन है, वह मुझे मिल सकता है—तो फिर साधक में स्वतः वास्तविक जीवन की माँग जागृत होती है।

यद्यपि यह माँग मानव-मात्र में बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु उसमें अविचल आस्था न होने से माँग शिथिल हो जाती है और काम उत्पन्न हो जाता है। फिर साधक शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप होकर रुचि-पूर्ति में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति से कुछ भी प्राप्त नहीं होता, अपितु अन्त में साधक

सामर्थ्य का ह्रास एवं अपने को जड़ता एवं पराधीनता आदि में आबद्ध ही पाता है। किन्तु जब वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति का अधिकारी मान लेता है, तब अविनाशी, स्वाधीन रसरूप जीवन की माँग सबल तथा स्थायी होती है। माँग के सबल होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषय से विमुख होने पर माँग से अभिन्न हो जाते हैं और फिर स्वत: मंगलमय विधान से माँग पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को लक्ष्य की प्राप्ति में लेशमात्र भी विकल्प नहीं करना चाहिए।

माँग अपनी पूर्ति में आप समर्थ है, अर्थात् काम की निवृत्ति और माँग की पूर्ति होती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित मानव-जीवन के महत्व को स्वीकार किया है। शरीर, वस्तु आदि का महत्व तो केवल अपनी भूल से ही प्रतीत होता है। यह जानते हुए भी कि शरीर आदि किसी भी वस्तु की वास्तविक स्थिति नहीं है, केवल भोग की रुचि के कारण मानव शरीर से तद्रूप होकर प्रवृत्तियों में आबद्ध हो, जड़ता आदि अनेक विकारों से पीड़ित होता रहता है। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश वास्तविक माँग की जागृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं होता।

तप आदि से रुचि दब जाती है, मिटती नहीं है। माँग की जागृति से भोग की रुचि सर्वांश में सदा के लिए नाश हो जाती है। माँग की जागृति तभी होती है, जब साधक लक्ष्य की प्राप्ति में विकल्प नहीं करता। अतएव प्रत्येक साधक को इस वास्तविकता को स्वीकार ही कर लेना चाहिए कि जिस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-जीवन दिया है, उसने सत् को स्वीकार करने की सामर्थ्य भी दी है।

यह मानव-जीवन का सत्य है कि मानव को लक्ष्य की प्राप्ति

हो सकती है। सत् को स्वीकार करना सत्संग हैं और सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। सत्संग से ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश होता है और फिर स्वतः कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

साधना साधक में स्वतः अवतरित होती है। साधना साधन-तत्व से अभिन्न होकर साध्य को रस प्रदान करती है। वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। काम से भोग, मोह, आसक्ति में प्राणी आबद्ध होता है और वास्तविक माँग की जागृति से साधक को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, जो मानव मात्र का लक्ष्य है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२२९

उल्हासनगर

१४-२-७०

अहैतुकी कृपा से पालित दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमीजनों में सोई हुई प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करने में तत्पर रहो। यही मेरी सद्-भावना है।

प्रीति और प्रीतम से भिन्न अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्हें प्रेमास्पद ने अपनी अहैतुकी कृपा से सद्गुरु-वाक्य द्वारा आत्मीयता प्रदान की है। अपने में अपनी प्रियता तो स्वाभाविक ही है, परन्तु उनके नाते सभी को आदर-प्यार देना भी एक सहज स्वभाव

है। कारण कि, प्यारे की हर चीज प्यारी है प्यारे के प्यार को बढ़ाने के लिए।

प्रीति से भिन्न अपना कुछ अस्तित्व रह न जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब कोई और मेरा नहीं है। सभी में अपने प्यारे ही हैं। पर सभी से अपना कोई मतलब नहीं, अर्थात् प्यारे से भिन्न किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। अनेक रूपों में एक ही का खेल है और वही अपना प्रिय है। जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता आ ही कैसे सकती है? अर्थात् कदापि नहीं। नीरसता के नाश में ही नित-नव रस की अभिव्यक्ति है और वही तुम्हारा निज-स्वरूप तथा तुम्हारे प्रेमास्पद की महिमा है। तुम अनन्त की महिमा से भिन्न कुछ नहीं हो, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। सद्गुरु-वाक्य में आस्था करो, सफलता अवश्य-म्भावी है। इससे भिन्न आस्था का कोई सदुपयोग नहीं है।

प्यारे अपनी महिमा की सतत् प्रियता प्रदान करते रहें, जिससे उनकी महिमा उनके काम आती रहे, प्रेमीजनों की यथोचित सेवा होती रहे, जिससे प्रेमास्पद को भी प्रसन्नता रहे। कारण कि, साधको की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है। यह शरणागतों का अनुभव है। साधक साध्य को और साध्य साधक को अत्यन्त प्रिय हैं। कारण कि, परस्पर प्रेम का ही आदान-प्रदान है, और उसी में रसरूप जीवन है, जिसकी माँग सभी साधक को सदैव है। सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु आत्मीय साधकों को अपनी अगाध प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

२३०

करनाल
२३-२-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

सत्संग के द्वारा साधन-निष्ठ साधक को कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती—यह जीवन का सुन्दर चित्र है। इतना ही नहीं, उससे भी किसी को किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती है। कारण कि, वह सभी का अपना होने से सर्व-प्रिय हो ही जाता है। शिकायत वही करता है, जो पराधीन है। पराधीन वही है, जिसने जीवन के सत्य को, वेद-वाणी को एवं सद्गुरु वाक्य को नहीं अपनाया। अपने में अपने प्रेमास्पद हैं, इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक अचाह तथा अप्रयत्न हो जाता है, किसी प्रकार की पराधीनता शेष नहीं रहती, प्रेमास्पद का प्रेम ही उसका जीवन हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर नीरसता शेष नहीं रहती। नीरसता का नाश होते ही स्वाधीनता एवं उदारता की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधक कृतकृत्य हो जाता है।

अधिकतर प्रमादवश साधक जगत् और जगत्पति के कर्त्तव्य को सोचता रहता है। तभी उसके मन में किसी-न-किसी के प्रति शिकायत उत्पन्न होती है। प्रेमियों को प्रेमास्पद से, उदार को जगत् से और स्वाधीन को अपने से कोई शिकायत नहीं रहती।

इस दृष्टि से साधन-निष्ठ साधक को किसी से शिकायत नहीं रहती। दूसरों के कर्त्तव्य का ध्यान उन्हीं को आता है, जो स्वयं अपने कर्त्तव्य को भूलते हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ होने में साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। कारण कि, किसी भी साधक को वह नहीं करना है जो नहीं कर सकता। परन्तु जब साधक प्रमादवश वह कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए, तब कर्तव्यपालन में असमर्थता प्रतीत होती है। वास्तव में कर्तव्यनिष्ठ होने में साधक स्वाधीन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए।

प्रभु-विश्वासी में अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं रहती। और फिर साधक स्वत: स्वाधीन तथा प्रेमी हो जाता है। अन्य सम्बन्ध से ही अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं और अन्य विश्वास से ही प्रभु-विश्वास सजीव नहीं होता। प्रभु-विश्वास सजीव होने पर साधक अभय, स्वाधीन, प्रेमी तथा उदार हो जाता है और फिर उसे कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् अचूक उपाय नहीं है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था होने से ही प्रभु-विश्वास सजीव होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रभु-विश्वासियों को अपना विश्वास तथा आत्मीय सम्बन्ध प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है। जहाँ रहें प्रसन्न रहें, जो करें ठीक करें और सब प्रकार से प्यारे प्रभु की होकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायँ।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२३१

श्रीगंगानगर

२९-२-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

जब तक साधक अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार नहीं करता, तब तक वह किसी-न-किसी प्रकार की पराधीनता में ही आबद्ध रहता है और स्वाधीन हुए बिना उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। और उसके बिना जीवन सार्थक नहीं होता। इस दृष्टिसे अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। मानव अपनी ही भूल से अपने में ममता तथा कामनाओं को उत्पन्न कर प्रेमास्पद की आत्मीयता से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। अतः प्रत्येक साधक को ज्ञानपूर्वक निष्काम एवं असंग होना अत्यन्त आवश्यक है। निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। वह केवल अपनी भूल से ही अपने को पराधीन मान लेता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सर्वांश में नीरसता का अन्त करने के लिए आत्मीयता से प्राप्त प्रियता को प्राप्त करना प्रभु-विश्वासी साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग हो जाता है और फिर आस्थापूर्वक प्रभु-विश्वास को अपनाकर आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२३२

देहरादून
२२-४-७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को उनकी प्रीति होकर रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रतिपल प्यारे की पूजा करती हुई उत्तरोत्तर प्रीति की भूख बढ़ती रहे, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है। यही वास्तविक सत्संग है। कारण कि, यह सदा-सदा का सत्य है। एकमात्र वे ही अपने हैं, अपने में हैं। इस वास्तविकता में विकल्प के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत का कोई और नहीं है। उनकी अहैतुकी कृपा निरन्तर बरस रही है, ऐसा अनेक घटनाओं से प्रत्यक्ष हो रहा है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२३३

ऋषिकेश
२७-४-७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

मानव सेवा संघ की मूल नीति है कि संघ की वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार कभी-भी न हो। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र व्यक्ति-निर्माण से होता है। व्यक्ति का निर्माण अधिकार-त्याग से होता है। अपने-अपने अधिकार-त्याग की भावना जिन-जिन साधकों में हो, वे ही संघ की यथेष्ट सेवा कर सकते हैं। संघ की सेवा का अर्थ मानव-जाति की सेवा है, किसी वर्ग विशेष की नहीं। मानव सेवा संघ कोई आन्दोलन नहीं है, अपितु क्रान्ति है। क्रान्ति एकमात्र अपने ही द्वारा होती है। मानव में सजगता आ जाय और वह यह अनुभव करे कि मैं मानव होनेके नाते उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी हो सकता हूँ। इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है।

इस वास्तविकता को मानव स्वीकार करे और सत्संग के द्वारा उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी होकर सभी के काम आ जाय, इसी सद्भावना से संघ का अवतरण हुआ है। प्रत्येक परिस्थिति में मानव उतना ही बड़ा मानव है, जितना कोई कभी हुआ है। मेरे जानते, कुछ सजग मानव 'मानव' होने के लिए तत्पर हो जायँ, जिससे मानव-जाति की क्रान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।

केवल सम्पत्ति-संग्रह से क्रान्ति नहीं होती, अपितु संग्रह के विरुद्ध समाज में एक प्रतिक्रिया होने लगती है, जो विनाश का मूल है। आप स्वयं अन्तर्यामी की प्रेरणा से कार्य किया करें। उन्हीं का कार्य है। तुम एक यन्त्र हो। वे जो करायें, सो करो—जैसे राखें, रहो। सेवा, त्याग, प्रेम मानव का अपना स्वरूप है। इसी को आस्था-पथ की दृष्टि से भक्ति कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रभु की है अथवा व्यक्तिगत रूप से किसी की नहीं है। यह एक विज्ञान है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२३४

श्रीवृन्दावन
१५-७-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

शरणागत साधक की सभी समस्याएं अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः हल हो जाती है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। वास्तव में तो समस्या का अनुभव होना ही साधक के वास्तविक विकास का आरम्भ है। समस्या स्वयं प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है और स्वतः हल हो जाती है। प्रार्थना ही तो साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान

पाते हैं, जो अपने लक्ष्य से निराश नहीं होते। हृदय की आँखें हृदयेश्वर स्वयं खोल देते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है।

जिसने गुरु-वाक्य के आधार पर अपने में सदैव अपने प्रेमास्पद को स्वीकार किया है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान में ही प्रेमास्पद की प्रीति होकर सर्वदा प्रिय को रस देने में ही लगा रहता है। क्या अपना अपने को प्यारा नहीं लगता? जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता, खिन्नता कभी-भी उत्पन्न नहीं होती और जीवन स्वतः रसरूप हो जाता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जो वर्तमान में विद्यमान है, उसके लिये भविष्य की आशा भूल है। जिसके लिए पराश्रय तथा परिश्रम अपेक्षित नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए कभी-भी विकल्प नहीं करना चाहिये। विकल्प-रहित आस्था कल्पतरु के समान फलवती होती है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

वर्षों के बाद आज सिर की पीड़ा से पीड़ित होकर चाय पी है। पीते ही सत्संग का काम चल गया। मेरे जानते, *Unconcious* (अचेतन मन) में चाय की रुचि छिपी होगी। उसकी पूर्ति के लिए प्रभु ने सिर की पीड़ा का रूप धारण किया। जो भी हो, वे बड़े ही चतुर-शिरोमणि वैज्ञानिक हैं। जिस-जिस प्रकार शरणागत का हित होता है, वही लीला करते हैं। चाय का कप हाथ में आते समय ऐसा लगता था कि न जानें कितना मजा आयेगा! पर एक घूँट पीते ही एक पुरानी बात याद आ गई :—

जब तक मिले न थे तो जुदाई का था ख्याल,
अब यह मलाल है कि तमन्ना निकल गई।

इसका अर्थ है कि संयोग में कितना सुख होगा, यह भ्रम

है। संयोग होते ही हाथ कुछ नहीं लगता। जीवन योग में है, संयोग में नहीं। योग, जो अपने में अपने हैं, उन्हीं से होता है। योग की मांग मानव की अपनी माँग है। उसकी पूर्ति अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है।

ओ३म् आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!! ❁

अकिंचन

.....

२३५

श्रीवृन्दावन
९-८-७०

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

साधक का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार लहर और समुद्र दोनों ही में सत्ता रूप से जल ही है, उसी प्रकार अपने में और सृष्टि में एकमात्र सत्ता रूप से श्रीहरि ही हैं। पर शरीर और सृष्टि का अविभाज्य सम्बन्ध होने से शरीर को विश्वरूपी बाटिका की सेवा में लगा देना अनिवार्य है। परन्तु अपने को विश्वनाथ की प्रीति हो जाना है, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है। 'अपने' अपने में मौजूद हैं—यह अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने मानने से ही अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

प्रियता से प्रेमास्पद को रस मिलता है और वे स्वयं प्रीति होकर प्रेमियों को रस प्रदान करते रहते हैं। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही साधक की साधना की पूर्णता है। साधना साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। साधक साधना

से और साधना साध्य से सर्वदा अभिन्न है। सत्संग से ही साधक में साध्य की अभिव्यक्ति होती है। बुराई-रहित होने से शरीर और विश्व में एकता हो जाती है और फिर ऐसा अनुभव होता है कि विश्व है, शरीर नहीं। और आत्मीयता से जागृत अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से अनन्त से अभिन्नता हो जाती है। वास्तव में तो एकता थी ही, है ही।

असत् के संग से जो भेद और भिन्नता प्रतीत होती थी, वह सत्संग से सदा के लिए स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से सत्संग में ही जीवन है। व्यक्त और अव्यक्त विश्व की ही दो अवस्थाएं हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है। व्यक्त में अव्यक्त का दर्शन करते ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता स्वतः हो जाती है। और फिर साधक सृष्टि के प्रभाव से रहित होकर अनन्त की समीपता, एकता एवं अभिन्नता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध का बोध सेवा, त्याग, प्रेम को प्रदान करता है, जो भक्ति का स्वरूप है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में शान्ति, मुक्ति, भक्ति साधना ही है। साध्य तो एक अनुपम अचिन्त्य अद्वितीय तत्व है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है। उसका कथन, चिन्तन, वर्णन साधन-रूप ही है। साध्य क्या हैं, इसे साध्य ही जानें। साध्य के सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह अधूरा है। अथवा यों कहो कि उतना तो है ही, उससे विलक्षण भी है। 'है' में आस्था 'है' की प्राप्ति का अचूक उपाय है। ज्ञान से विश्व की निवृत्ति और विश्वास से विश्वनाथ की प्राप्ति होती है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२३६

श्रीवृन्दावन
१९-८-७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

प्रत्येक दशा में अनन्त की प्रीति होकर सर्वदा लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

शरीर तो विश्व-रूपी बाटिका की सेवा-सामग्री है ही। बड़े हर्ष की बात है कि महाविद्यालय के रूप में उसका उपयोग किया जा रहा है। सभी कार्य अपने प्यारे के ही हैं। उन्हें जो-जो भावे, सोई-सोई करें। कभी अविद्या-निवृत्ति, अर्थात् भूल-रहित करने के लिए भी आपके प्यारे आपके शरीर का उपयोग साधकों की सेवार्थ करायेंगे ही।

आज मानव-समाज बड़ी ही कठिन परिस्थिति से गुजर रहा है। भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्षों की धूम मची है। प्यारे की लीला! जैसी चाहें करें, जो चाहें सो करायें; पर अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास बनाये रखें। उनकी शरणागति को पाकर सभी सब कुछ पा गये। इस दृष्टि से शरणागत की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। प्रभु-विश्वासी साधक के लिए शरणागति एकमात्र अचूक उपाय है। इस वास्तविकता में अनन्त की अहैतुकी कृपा से अविचल आस्था बनी रहे। सफलता अवश्यम्भावी है। शरणागत के सभी संकल्प अनन्त के संकल्प में और शरणागत का अस्तित्व शरण्य के अस्तित्व में सदा के लिए विलीन हो जाता है। उनकी प्रियता ही शरणागत

का जीवन हो जाता है। प्रियता की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। सफलता अवश्यम्भावी है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

शरणागत की प्रियता से ही अभिन्नता हो जाती है। प्रियता ही एक ऐसा अनुपम तत्व है, जिससे जीवन शरण्य के लिए उपयोगी हो जाता है, अर्थात् प्रियता ही साधक के विकास की चरम सीमा है। प्रियता के लिए उत्कट लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। प्रियता की माँग जीवन की अन्तिम माँग है। जो प्रियता से निराश नहीं होता, उसे प्रियता अवश्य प्राप्त होती है। यह करुणानिधि का मंगलमय विधान है। इतना ही नहीं, प्रियता ही एकमात्र शरणागत का जीवन है। वास्तविक जीवन से कभी-भी निराश नहीं होना चाहिए।

जब साधक लक्ष्य से निराश नहीं होता और अपने द्वारा उसे पूरा नहीं कर पाता, तब स्वतः एक वेदना जागृत होती है, जो वास्तविक प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है। वैधानिक प्रार्थना अवश्य पूरी हो जाती है, यह सर्व-समर्थ सर्वाधार की महिमा है। जिसने उनकी महिमा को अपनाया, वह सब कुछ पा गया। उनके अस्तित्व और महत्व में जिसे विकल्प नहीं होता, वही शरणागत होकर कृतकृत्य हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२३७

हैदराबाद
२८-८-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम हरिस्मरण !

संसार-रूपी बाटिका में विचरते हुए मानवता का सन्देश जो मिला है, उसे सुनाते हुए जहाँ चाहे शरीर शान्त हो जाय। पर शरणागत को पता न चले कि सूखी मिट्टी की भाँति शरीर कब-कहाँ झड़ गया। मानव की स्वाभाविक स्थिति कर्त्तव्य के अन्त में जाग्रत-सुषुप्तिवत् रहनी चाहिए। कारण कि, शरणागत साधक के आवश्यक संकल्प स्वत: पूरे होकर मिट जाते हैं और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होते। नि:संकल्पता सहज तथा स्वाभाविक स्थिति है। पर प्रेमियों को तो उसमें भी रमण नहीं करना है। इतना ही नहीं, अपने में सन्तुष्ट होने पर भी सन्तुष्ट नहीं होना है। तभी अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता से प्यारे प्रियतम को रस मिल सकता है।

प्रिय को रस देना ही प्रेमी का जीवन है। जिसे अपने लिए कभी-भी कुछ नहीं चाहिए, केवल आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता ही जिसे अभीष्ट है, वही शरणागत साधक है। शरणागत को एकमात्र शरण्य की प्रीति ही चाहिए। शरण्य को तो सभी शरणागत स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय हैं। पर शरणागत

को भी शरण्य प्यारे लगें, यही शरणागत की पुकार है। निरन्तर रोम-रोम से प्रीति की पुकार होती रहे। सर्व दुःखों की निवृत्ति, चिर-शान्ति, जीवनमुक्ति अपने लिए भले ही हितकर हो। परन्तु प्रेम के बिना जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी नहीं हो सकता।

जो जीवन 'उनके' लिए उपयोगी नहीं है, वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, निरर्थक ही है। प्रेम की माँग जीवन की अन्तिम माँग है। प्रेमास्पद अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं—यह सद्गुरु-वाक्य है, वेदवाणी है। इसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से उन्हें कहीं बाहर नहीं खोजना है। अभी होने से भविष्य के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी है। अतः प्रियता होकर वर्तमान में ही उन्हें अपने में पाना है। जिससे देशकाल की दूरी है ही नहीं, उनसे वर्तमान में ही अभिन्न होना है। अभिन्न होने के लिए अखण्ड स्मृति, प्रियता एवं अपने आपको सदा के लिए खो देना है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२३८

श्रीवृन्दावन
५-९-७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि जिसकी प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है, उसी को असम्भव मानकर निराश-सा हो रहा है, और जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसी के पीछे दौड़ रहा है। परिणाम में श्रमित होने के अतिरिक्त कुछ भी हाथ न लगेगा। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। श्रमित मानव असमर्थता में आबद्ध हो जाता है। फिर भी न जाने क्यों सर्व-समर्थ में अविचल आस्था करने में अपने को असमर्थ मान लेता है ! यद्यपि वैधानिक दृष्टि से असमर्थ का ही सर्व-समर्थ से आत्मीय सम्बन्ध हो सकता है। इस वास्तविकता को अपनाये बिना सर्वांश में सदा के लिये साधक असमर्थता की व्यथा से मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी सद्गुरु-वाक्य के आधार पर असमर्थ प्राणी सर्व-समर्थ के अस्तित्व और महत्व को क्यों नहीं अपनाकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है ? यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

विधान के अनुसार सभी साधक आवश्यक कार्य पूरा कर सकते हैं और अनावश्यक कार्य का त्याग कर सकते हैं। परिणाम में विश्राम पा सकते है। विश्राम में स्वतः साधक साधननिष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से साधक

के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पर साधक अपनी ही भूल से उत्साहहीन होकर एक अजीब दशा में फँस गया है। साधक को कभी-भी साध्य से निराश नहीं होना चाहिए, अपितु साध्य की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर सजगता, तत्परता एवं नित-नव उत्साह बढ़ता रहना चाहिये। उत्साह-हीनता के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस भूल का शीघ्रातिशीघ्र सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है।

साधक के जीवन में उत्साह-रूपी उत्सव सतत् होना चाहिये। उत्साह में चेतना है, उत्साह में सरसता है और उत्साह में सफलता है। उत्साहहीनता जीवन में तभी आती है, जब साधक साध्य की प्राप्ति में अविचल आस्था नहीं करता, जिसका साधक के जीवन में कभी-भी कुछ भी स्थान नहीं है। साध्य उसी को कहते हैं, जो सभी साधकों को मिल सकता है। कारण कि, साध्य अनुत्पन्न हुआ अविनाशी तत्व है। अविनाशी तत्व सर्व देश, सर्व काल में सदैव ज्यों-का-त्यों है। उसमें आस्था करना साधक का परम पुरुषार्थ है। साध्य में आस्था 'मैं' के द्वारा होती है, 'यह' के द्वारा नहीं। जो अपने द्वारा स्वीकार किया जाता है, उसे कोई और कभी-भी मिटा नहीं सकता।

अतः प्रत्येक साधक को अपने द्वारा अपने लिए साध्य के अस्तित्व एवं महत्व को अपना लेना चाहिए। जिसने साध्य के अस्तित्व तथा महत्वको अपनाया, उसके जीवनमें किसी और का अस्तित्व तथा महत्व ही नहीं रह जाता। इसी वास्तविकता को प्रीति-स्वरूपा गोपियों ने कहा— 'नाहिंन रह्यो मनमें ठौर।' और शरणागत ने कहा कि 'नाहिंन रह्यो कोई और।' तो फिर नित्य-मिलन, नित्य-विरह से भिन्न जीवन में कुछ और है ही नहीं। मिलन और विरह प्रेम-सिन्धु के दो तट

हैं। पर यह रहस्य उन्हीं को स्पष्ट होता है, जिन्होंने सद्गुरु-वाक्य के आधार पर साध्य की शरणागति स्वीकार की है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

अकिंचन

.....

२३९

श्रीवृन्दावन

२१-९-७०

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

जो साधक पूरी शक्ति लगाकर प्रभु का कार्य करते हैं, उन साधकों की सारी व्यवस्था प्रभु स्वयं करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। इतना ही नहीं, साध्य ही की महिमा साधन-तत्व है और साध्य ही की रचना साधक है। जिस प्रकार लहर और सागर में सत्ता जल ही की है, लहर और सागर का किसी भी काल में कोई अस्तित्व ही नहीं है, उसी प्रकार साध्य ही की सत्ता है, और किसी की नहीं। इस वास्तविकता में आस्था अनिवार्य है। प्रभु-विश्वासी साधक का रोम-रोम प्रभु-प्रेम से भर जाता है। पर कब ? जब उसकी दृष्टि में प्रभु से भिन्न का

अस्तित्व ही नहीं रहता। जीव और जगत् उस अनन्त की विभूति हैं, और कुछ नहीं। क्या जिसे इस वास्तविकता में आस्था है, उसकी दृष्टि में कोई और है ? इससे भिन्न अखण्ड समाधि कुछ नहीं।

तुम जिसकी प्रिया हो, वे परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं परम प्रेम से भरपूर हैं। उनके दिये हुए प्रेम से ही प्रेमी उन्हें रस प्रदान करता है। उनकी दी हुई उदारता से ही प्रभु-विश्वासी जगत् को प्रसन्न करता है। उनकी दी हुई स्वाधीनता से ही साधक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है। क्या कहा जाय ! साध्य ही साधन-तत्व तथा साधक होकर लीला कर रहे हैं। लीलामय की लीला अजर, अमर, अविनाशी और रसरूप है। शरणागत को उन्होंने बिना मांगे सब कुछ दिया है, देते हैं, और देते रहेंगे।

मिले हुए से उनकी पूजा करती रहो। प्रीति की भूख ही जीवन की वास्तविक भूख है। उनका कार्य ही सच्ची पूजा है। उनके होकर रहने में ही वास्तविक निर्भयता है। साधना का रस मत लो। साध्य को रस दो। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रीति से भिन्न और कोई माँग न रह जाय, पूजा से भिन्न और कोई काम न रह जाय, और उनकी आस्था ही अपना अस्तित्व हो जाय। यह सब सम्भव है। इसमें लेशमात्र भी विकल्प मत करो।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२४०

आगरा

६-११-३०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा भक्तिमति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम यथोचित।

यदि साधक निःसंकल्प हो जाय, तो सभी आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे हो-होकर निर्विकल्पता में साधक का प्रवेश करा देते हैं। अर्थात् निःसंकल्प होने से निर्विकल्पता प्राप्त होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। शरीर आदि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग अपने लिए नहीं है, अपितु अपने प्यारे की विश्व-बाटिका के लिए है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने लिए तो एक मात्र सत्संग ही अभीष्ट है। उसी से साधक साधन-निष्ठ हो जाता है। सत्संग साधक का अपना स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं।

'स्व' के द्वारा सत्य को स्वीकार कर साधक बुराई-रहित होकर जगत् के लिए और अचाह होकर अपने लिए एवं आत्मीयता से प्राप्त अखंड स्मृति तथा अगाध प्रियता से प्रेमास्पद के लिए उपयोगी हो जाता है। जीवन उपयोगी हो जाय, यही साधक का लक्ष्य है। अपने लक्ष्य को अपने द्वारा स्वीकार करना एवं उसकी पूर्ति में विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं होता, उसकी आवश्यकता सबल तथा स्थायी हो जाती है। आवश्यकता अनुभव करने में ही

साधक का प्रयास है। उसकी पूर्ति कर देना साध्य का सहज स्वभाव है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जिसे किसी प्रकार की पराधीनता भाती नहीं है, उसी में स्वाधीनता की माँग जागृत होती है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ है। यह निर्विवाद सत्य है। सत्य में अविचल आस्था तथा उसे स्वीकार करना साधक का परम पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

२४१

श्रीवृन्दावन
२७-११-७०

अहैतुकी कृपा से पालित दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

संसृति का प्रभाव तुम्हें छू न सकेगा। डरो मत, घबड़ाओ मत, अधीर होने की आवश्यकता नहीं। जिनके हाथ में तुम्हारा हाथ दिया गया है, वे सब प्रकार से पूर्ण तथा समर्थ हैं। वे शरणागत को छोड़ना जानते ही नहीं हैं। तुम उनकी महिमा न भूलो। वही तुम्हारा मूलाधार है। जिन्होंने उनकी महिमा का आश्रय लिया, वे सभी पार हो गये। इस वास्तविकता से प्रेमियों का इतिहास भरा है। पर उसका दर्शन एकमात्र अकिंचन शरणागत साधकों को ही होता है। यद्यपि संसृति उन्हीं का

प्रकाश है, कुछ और नहीं। परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब शरणागत की दृष्टि में उसका अपना कोई और नहीं रहता। तुम्हारी व्यथा मेरी अपनी व्यथा है। कारण कि, मैंने साधकों की सेवा स्वीकार की थी। तुम अपनी ओर से किसी और के अस्तित्व को ही स्वीकार न करो। वे लीलामय तुम्हें मोह तथा मोहक वन में फँसने न देंगे। उनसे सहायता न माँगो। अपने सहित सारा भार उन्हीं पर डाल दो। तुम उनकी प्रीति हो, इस वास्तविकता को न भूलो। सफलता अवश्यम्भावी है।

बर्तमान कार्य में पूर्ववत् चित्त नहीं लगता, इससे यह स्पष्ट ही है कि अब तुम्हें अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की भूख जगेगी। पूजा स्मृति की तैयारी में है। स्मृति की भूख जगने पर पूजा फीकी-फीकी हो जाती है। तुम अपनी दशा मत देखो, अपितु अपने स्वरूप को देखो। भला तुम तक कभी-कभी सृष्टि पहुँच सकती है? कदापि नहीं। अहंकृति का नाश, योग तथा बोध का उदय एवं स्मृति की जागृति सब एक साथ होती है। इसमें साधक का प्रयास नहीं है अपितु वह साधक की माँग है। माँग प्रयास नहीं कहलाती। कारण कि, उसका सम्बन्ध शरीर से नहीं है। वर्तमान कार्य से लेकर निर्विकल्प स्थिति तक शरीर का क्षेत्र है।

तुम्हें निर्विकल्पता का बोध है। अतः तुम अवस्था नहीं हो। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं है। तुमसे भी बहुत सूक्ष्म तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हीं में हैं। वे तुम्हें जानते हैं, देखते हैं। तुम उनकी महिमा में डूब जाओ। कभी-कभी कह दिया करो—'प्यारे! अपनी, महिमा में मेरी अगाध प्रियता एवं अविचल आस्था कर दो। समस्त साधनों में भी तो साध्य की ही सत्ता है। साधक की साधनों से एकता होती है और साधन-तत्व की साध्य से

एकता रहती ही है।

सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधन-तत्व से अभिन्न कर दें, यही मेरी अपनी माँग है। उन्होंने सदैव मेरी माँग को पूरा किया है। ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है। जिन्होंने प्रभु-विश्वासी के द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार किया, समर्थ ने अपने विश्वासी की लाज को सदैव रखा है। उनकी महिमा भूल जाने पर साधक अधीर हो जाता है। इस दशा में उनकी महिमा की स्मृति ही एकमात्र अचूक उपाय है, यह सद्गुरु-वाक्य है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२४२

श्रीवृन्दावन
३-१२-७०

अहैतुकी कृपा से पालित दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

अपने में अपने प्रेमास्पद हैं। उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है। किसी भी कार्य को घबड़ाकर करना भारी भूल है। धीरज जीवन का प्रधान अंग है। उसे सुरक्षित रखना अनिवार्य है। अधीरता तो केवल सोई हुई प्रीति के जगाने में ही चाहिए। शरीर-सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए अधीर होना भारी भूल है। प्रियता में ही प्रियतम का नित्य वास है और प्रियता ही एकमात्र साधक का जीवन है। ज्यों-ज्यों साधक अपने में अपने साध्य को स्वीकार करता है, त्यों-त्यों प्रियता स्वतः सबल तथा स्थायी होती जाती

है। प्रियता के सबल होने में ही जीवन की सफलता है। प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, बस यही सफलता की कुञ्जी है। जिसे सचमुच अपने लिए कभी कुछ भी नहीं चाहिए उसी में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता से ही प्रियतम को रस मिलता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। आत्मीयता ही प्रियता की जननी है। आत्मीयता को स्वीकार करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

समस्त साधनों का फल आत्मीयता की जागृति में ही है। वे सदैव अपने हैं, यह ध्रुव सत्य है। अपने को अपना स्वीकार करना ही अपना पुरुषार्थ है। और यह साधक के लिए बहुत ही स्वाभाविक है। वे अपने हैं, इसी में जीवन की पूर्णता है। अपना अपने को स्वभाव से ही प्यारा लगता है। प्यार से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। वे प्यारे लगते रहें, यही माँग सदैव रहनी चाहिए।

प्रियता की माँग काम का अन्त कर साधक को साध्य से अभिन्न करती है, यह अनुभव सिद्ध सत्य है। जहाँ तक हो सके वर्तमान कार्य को विधिवत् पवित्र भाव से पूरा करती हुई प्रीति की भूख बढ़ाती रहो, सफलता अवश्यम्भावी है। सच तो यह है कि प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, और न शरीर तुम्हारा है। शरीर तो केवल संसार-रूपी वाटिका की खाद है, और कुछ नहीं। साधक का अस्तित्व एकमात्र साध्य की प्रियता है। जीवन का जो सत्य है, उसे अपनाओ, और अभय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ-साथ बहुत-बहुत प्यार !

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२४३

प्रयाग

२३-१-७१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो !

आत्मीय प्रभु-विश्वासी साधकों की व्यथा से व्यथित एक अकिंचन शरणागत की माँग है कि सर्व-समर्थ तुम्हें अपनी मुरलिया बनायें, जिससे तुममें तुम्हारा कुछ न रहकर उन्हीं का प्राण तुम्हारा प्राण हो जाय और तुम सदैव उनके अधरामृत का पान करती हुई उनके प्रेमियों के हृदय में प्रीति को जगाकर प्रेमास्पद की सतत् सेवा करती रहो। तभी मुझे चैन मिलेगा। इसने जिसे प्रेमास्पद के अर्पित किया है, वह प्रेमास्पद की प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करे। प्रीति भिन्न तुम्हारा कुछ भी अस्तित्व न रह जाय, तभी मुझे आराम मिलेगा। यद्यपि एकमात्र प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है और कुछ नहीं, परतु तुम्हें कभी-कभी कुछ और भासित होने लगता है। इससे मुझे बड़ी व्यथा होती है। तुम कभी अपने स्वरूप को मत भूलो। यही मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२४४

बम्बई
११-२-७१

अहैतुकी कृपा से पालित प्रेमतत्व से निर्मित अनन्त की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमियों के हृदय में प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर आपके द्वारा सतत् साधकों की सेवा कराते रहें, यही मेरी उत्कट लालसा है। शरणागत साधक के लिए शरीर का रहना, न रहना समान है। कारण कि, उसकी आत्मीयता तो केवल श्रीहरि में ही है और प्रियता ही उसका जीवन है, जो अविनाशी है। आत्मीय साधकों की व्यथा मेरी अपनी व्यथा है।

प्यारे प्रभु सदैव मेरा दुःख हरते रहते हैं। अतः आत्मीय साधकों का कल्याण अवश्य होगा। वे प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करेंगे ही। जिन्होंने सद्गुरु-वाक्य द्वारा आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया है, प्रियता ही उनका निज-स्वरूप है। प्रियता अनन्त है, नित-नव है और वही तुम्हारा अपना स्वरूप है, तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो।

जब अपने में शरीर-भाव नहीं रहता तब किसी भी शरीर में आसक्ति नहीं रहती, अर्थात् निर्मोहता स्वतः सिद्ध हो जाती है। केवल सद्गुरु-वाक्य से प्राप्त आत्मीयता से जागृत प्रियता ही शेष रहती है। वही प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों का

अपना स्वरूप है। प्रियता ही गुरु-तत्व है और उसी से प्रेमियों की एकता होती है, यह सद्गुरु-वाक्य की महिमा है। शरीर चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, अथवा न रहे, उससे अपनी कोई क्षति नहीं होती। अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। प्रियता से दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध, प्रेम प्रियता का ही स्वरूप है।

प्यारे प्रभु अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं—इस वास्तविकता को अपने ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति होती है और उसी में जीवन है। भूतकाल भूल जाओ, वर्तमान की सरसता से भविष्य उज्ज्वल बनाओ। प्रत्येक दशा में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करो। जीवन-धन सदैव अपने में ही हैं, इस वास्तविकता में विकल्प मत होने दो। सफलता अवश्यम्भावी है। सर्वदा प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में रत रहो, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

२४५

बम्बई

१४-२-७१

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रेम तत्व से निर्मित, प्राणनाथ की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम सदैव उनकी हो और वे तुम्हारे हैं। इतना ही नहीं, तुममें तुम्हारा कुछ भी नहीं, सब कुछ उन्हीं का है। उनकी

दी हुई प्रियता से ही उन्हें आनन्दित करती रहो। प्रियता की माँग ही जीवन की अन्तिम माँग है, और वही तुम्हारा निज-स्वरूप है।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। शरीर तो तुम्हें विश्व-बाटिका की सेवा के लिए मिला है। शरीर और विश्व दोनों ही उन्हीं से सत्ता पाते हैं, उन्हीं से प्रकाशित हैं और उन्हीं के हैं और वे तुम्हारे अपने हैं।

जीवनोपयोगी महावाक्य—

(१) मेरा कुछ नहीं है।
(२) मुझे कुछ नहीं चाहिए।
(३) प्रभु ही अपने हैं।
(४) सब कुछ प्रभु का ही है।

अपना सदैव अपने ही में है। बुराई-रहित होकर भलाई का अभिमान गल जाने पर अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य आ जाती है और फिर साधक अपने ही में साध्य को पाकर सदा के लिए आनन्द-विभोर हो जाता है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२४६

भागलपुर
१३-४-७१

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित परम प्रेमास्पद परम सुहृद् सर्वाधार सर्वान्तर्यामी प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद की महिमा से ही उन्हें नित-नव रस प्रदान करती रहो। यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। इस वास्तविकता से अभिन्न होकर योग, बोध, प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाओ—यही मेरी सद्भावना है।

जीवन की माँग अवश्य पूरी होती है—यह सद्गुरु-वाक्य तथा वेदवाणी है। इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने भूल-रहित होकर अपनी माँग का अनुभव किया है। माँग का अनुभव ही मानव का परम पुरुषार्थ है। माँग काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। विधान का आदर करो और सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। विधान के आदर से ही माँग सबल होती है। इस दृष्टि से विधान में अविचल आस्था अनिवार्य है।

माँग से कभी किसीको निराश नहीं होना चाहिए। काम की निवृत्ति, माँग की पूर्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है। सत्य को स्वीकार करना साधक का स्वधर्म है, जिसे वह सदैव स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है, इतना ही नहीं, सत्य को स्वीकार करने का दायित्व साधक पर है, शेष सब कुछ अर्थात् साधना का उदय साधक में स्वतः साध्य की अहैतुकी कृपा से होता है। सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता

से प्राप्त है। अतः स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल मन्त्र है। मानव स्वाधीनता का सदुपयोग कर अभय हो जाता है, अर्थात् भयहारी हरि उसे अपना लेते हैं। और फिर, कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। स्वाधीनता के सदुपयोग से ही स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता की प्राप्ति में ही अविनाशी, रसरूप, चिन्मय जीवन है।

प्रत्येक साधक को प्राप्त स्वाधीनता के सदुपयोग तथा ज्ञान के प्रकाश से भूल-रहित होकर शीघ्रातिशीघ्र स्वाधीन हो जाना चाहिए। स्वाधीनता की उपलब्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर नहीं टालना चाहिए। वर्तमान की सरसता से ही भविष्य उज्ज्वल होता है। कारण कि, प्रेमास्पद सदैव अपने ही में मौजूद हैं। प्रेमी होने की माँग से ही प्रेमास्पद अपना अनुपम अलौकिक प्रेम प्रदान करते हैं, यह प्रेमियों का अनुभव है। प्रेमास्पद से प्राप्त प्रेम से ही प्रेमास्पद की वास्तविक सेवा-पूजा होती है, अर्थात् उनकी दी हुई साधना से ही साध्य से अभिन्नता होती है।

सत्य को स्वीकार करते ही परम उदार, परम स्वतन्त्र प्यारे प्रभु साधक को साधन-निष्ठ कर सदा-सदा के लिए अपना लेते हैं। वे सदैव अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं। तो फिर उनकी नित्य प्राप्ति में विकल्प करना साधक की अपनी ही भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु अपने शरणागतों को निज-ज्ञान के प्रकाश में भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

२४७

ऋषिकेश
२१-४-७१

अहैतुकी कृपा से पालित सर्वसमर्थ प्यारे प्रभु की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा साधकों में सोई हुई प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। इसी सद्भावना के साथ सप्रेम-यथोचित स्वीकार करें।

प्राणी भूल करते-करते थकता नहीं है और प्राणनाथ सदैव रक्षा करते ही रहते हैं। फिर भी प्राणी उनके प्रेम को न अपनाये, इससे बढ़कर और कोई जड़ता नहीं हो सकती। साधक के साधन-निष्ठ होने में करुणामय का स्वयं संकल्प है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने सभी संकल्प प्यारे प्रभु के संकल्प में विलीन कर निर्विकल्प हो जाता है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२४८

श्रीवृन्दावन

१०-११-७३

प्रीतिस्वरूपा प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा शरणागत साधकों के हृदय में सोई हुई प्रीति को जगाती रहो, यही मेरी सद्भावना है। कारण कि, साधकों की सेवा में ही साध्य की प्रसन्नता निहित है।

प्राणेश्वर के प्रिय साधको, सावधान ! निज-ज्ञान गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि उत्पत्ति बिना आधार और प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। इस दृष्टि से जो दृश्य का आधार तथा प्रकाशक है, वही समस्त साधकों का अपना है, अपने में है, अभी है, समर्थ तथा अद्वितीय है। उस साध्य में ही साधक की अविचल आस्था तथा श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। कारण कि. एकमात्र विश्वास ही विश्वासपात्र की प्राप्ति में हेतु है। जिन भाग्यशीलों को यह विश्वास प्राप्त है, वे धन्य हैं। उनके जीवन में किसी अन्य विश्वास की गन्ध ही नहीं रहती। विश्वास से सम्बन्ध और सम्बन्ध से स्मृति तथा प्रियता स्वतः होती है—यह जीवन का सत्य है। सत्य स्वीकार कर साधक को साधन-निष्ठ होने के लिए सतत अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

जो सत्य ज्ञान और आस्था से साध्य है, उसके स्वीकार करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता साधक को साध्य की अहैतुकी कृपा से जन्मजात

प्राप्त है। अतः साधक साधन-निष्ठ होने में सर्वदा समर्थ है। इस वास्तविकता को अपनाओ और अभय हो जाओ। इसी सद्-भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

तुम्हारा

.....

२४६

श्रीवृन्दावन
१५-११-७३

भगतत् कृपाश्रिता प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

उत्पत्ति का आधार, प्रतीति का प्रकाशक जो हैं, वही सदैव, सर्वत्र, सभी का होने से अपना है, अपने में है, और अभी है। जब यह सत्य स्वीकार कर लिया, तो फिर भय, चिन्ता तथा निराशा के लिये तो कोई स्थान ही नहीं रह जाता। अतः अपने में अपनी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे। कारण कि, प्रेमास्पद के समान प्रेम-तत्व भी असीम तथा अनन्त है। शरीर चाहे जैसा रहे, पर विश्वरूपी बाटिका की खाद हो जाय। यह तभी सम्भव होता है, जब साधक अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्न होकर शरणागत हो जाय। यही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है।

बड़े हर्ष की बात है कि तुमने साधकों की सेवा सहर्ष स्वीकार की है। मेरे विश्वास के अनुसार साधकों की सेवा में ही साध्य की प्रसन्नता निहित है। यह जीवन का सत्य है। सेवा त्याग तथा प्रेम की जननी है। पर यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, और अपने में अपने से भिन्न का अस्तित्व की स्वीकार न करो; तभी चिर-विश्राम, स्वाधीनता, एवं पावन प्रेम की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है।

एक ही अनन्त अनेक रूपों में, अनेक भाव प्रकट होता है। अतः अपने प्रेमास्पद से भिन्न किसी और का अस्तित्व ही स्वीकार न करो। बस, तुम्हारी सभी समस्याएँ हल हो जायेंगी और तुम अभय होकर नित-नव रस का दान करोगी। और फिर तुम्हारे प्रेमास्पद प्रेमी होकर तुम्हें अपनायेंगे। तुम सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो जाओगी। सर्व समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को अपनी आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

२५०

श्रीवृन्दावन
१–१–७४

भगवत् आश्रिता प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

अपने में अपना कुछ नहीं है, इस वास्तविकता को अपनाकर सर्वांश में रिक्त हो जाओ। प्यारे के प्राणी तुम्हारे प्राण हो जायँ, इसी सद्भावना से प्यारे की प्यारी को बहुत-बहुत प्यार!

सभी साधक साध्य के होकर रहें और उन्हीं की महिमा को अपनाकर सभी के लिए उपयोगी हो जायँ, यह माँग जीवन की माँग हैं। अनुपयोगी वही रहता है, जिसे अपने लिए किसी से कुछ चाहिए। इस प्रमाद का अन्त करना अनिवार्य है। अपना करके सृष्टि में कुछ नहीं है। अपने, अपने में अवश्य हैं। अपने में अपनी प्रियता स्वतः होती है, की नहीं जाती। करना यही है कि करना कुछ नहीं है।

केवल प्रेमास्पद के अस्तित्व और महत्व को अपनाना है। 'है' को स्वीकार करना और 'नहीं' को 'नहीं' जानकर उससे विमुख होना, यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता साध्य ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक को दी है। सत्य को स्वीकार करने मात्र से ही साधक में साधना की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वतः सदैव साध्य से अभिन्न रहती है, कारण कि वह साध्य की महिमा है और वही साधक का जीवन है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनाकर उपयोगी बनाएँ—इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

२५१

श्रीवृन्दावन
४–१–७४

परम भागवत् प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

किसी न किसी प्रकार का सुख ही अहंभाव को जीवित रखता है। यह जीवन का सत्य है। जिस माँग का तुम अनुभव कर रही हो, वह माँग स्थायी तथा सबल होने दो। माँग स्वयं सुख को खाकर पूरी हो जायगी, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। निःसन्देह वे सर्वदा, सर्वत्र अपने ही में मौजूद हैं। उनकी अनुपस्थिति तो है ही नहीं। परन्तु आत्मीयता से जागृत प्रियता उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। प्रेम स्वयं प्रेमी को खाकर प्रेमास्पद के लिए रसरूप होता है। उनको रस देने की उत्कट लालसा उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिए। यह जीवन उनके लिए उपयोगी हो जाय, उनकी कृपा से हो जाय, अभी हो जाय, यह लालसा स्वयं अहं को खा जायेगी। यह निर्विवाद सत्य है।

प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होकर सोई हुई प्रीति को जगा दे, इस पवित्रता से प्रवृत्ति में आरम्भ होना चाहिए। अपने अपने को प्यारे होते ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु प्रेमी होकर भी जीवित नहीं रहना है, प्रेम से अभिन्न होना है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपना प्रेम प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

२५२

श्रीवृन्दावन
७–१–७४

परम भागवत प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

अपनेपन का भास मानव का सर्व-प्रथम भास है, अर्थात् प्रत्येक भाई-बहिन अपने को स्वीवार करते हैं। पर मैं क्या हूँ ? यह प्रश्न हमें विचार करने के लिए विवश करता है। यदि मेरी कोई माँग न होती, तो सृष्टि से परे भी कोई जीवन है, यह प्रश्न ही न होता। परन्तु मुझे जीवन चाहिए। जीवन उसे नहीं कहते, जिसका नाश हो जाय और न उसे कहते हैं, जिसमें चेतना न हो और जो रसरूप न हो। अर्थात् अविनाशी, चिन्मय, रसरूप जीवन की माँग मेरी माँग है। परन्तु जब मैं इस वास्तविक माँग को भोग की रुचि से ढक देता हूँ, तब मेरा सम्बन्ध उत्पन्न हुए शरीर और संसार से होता है।

यदि मेरी माँग सबल तथा स्थायी हो जाय, तो मेरा शरीर और संसार से सम्बन्ध टूट जाता है। परन्तु शरीर और संसार तो अभिन्न हैं, अर्थात् शरीर से संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। परन्तु मेरा संसार से काल्पनिक सम्बन्ध है। काल्पनिक सम्बन्ध होने के कारण मुझे संसार के प्रति उदार रहना चाहिए। उदार होते ही हृदय करुणा और प्रसन्नता से भर जाता है। करुणा से भोग की रुचि और प्रसन्नता से काम नाश हो जाता है, ज्ञान जिसका स्वरूप है, प्रेम जिसका स्वरूप है, योग जिसकी महिमा है और जो अनुत्पन्न हुआ अविनाशी स्वतन्त्र तत्व है।

योग की माँग भोग की रुचि को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है और फिर मोह तथा आसक्ति का सदा के लिए अन्त हो जाता है और बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध, प्रेम में ही जीवन हैं, जो अनन्त की महिमा और मानव का स्वरूप है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! ❁

अकिंचन

.....

२५३

श्रीवृन्दावन
११-१-७४

मानव-जोवन में ही धर्म की चर्चा है। कारण कि, मानव ही धर्मात्मा होता है। जो मानव अपने पर सभी के अधिकार मान लेता है, धर्मात्मा हो जाता है। यही शुद्ध भौतिकवाद है। मन, वाणी, कर्म से बुराई रहित होने पर धर्म अभिव्यक्त होता है और फिर सभी के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। इस दृष्टि से धर्मात्मा की माँग सभी को होती है और उसमें स्वाधीन होने की सामर्थ्य आ जाती है। यह धर्म का परिमाण है। कर्तव्य-निष्ठ बनाने के लिए ही समय-समय पर राष्ट्र की कल्पना हुई। दूसरों का अधिकार देना मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य है। बल का दुरुपयोग रोकने के लिए ही समस्त सामाजिक प्रयास हैं। अतः मानव मात्र को यह व्रत लेना कि बल का

दुरुपयोग नहीं करूंगा—अत्यन्त आवश्यक है। इसी से विश्व-शान्ति की समस्या हल होती है और फिर स्वत: मानव में विवेक का प्रकाश होता है, जो उसे अपने में सन्तुष्ट कर चिर-शान्ति तथा अमरत्व से अभिन्न कर देता है।

विवेक मानव को सजगतापूर्वक अधिकार-त्याग की प्रेरणा देता है। विवेकी के जीवन में अधिकार-लोलुपता की गंध भी नहीं रहती रहती। दूसरों के अधिकार की रक्षा करना धर्म है और अधिकार-त्याग का नाम विवेक है दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना अनिवार्य है। तभी मानव अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने को अपने में सन्तुष्ट कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है और फिर अशान्ति और पराधीनता की गन्ध भी नहीं रहती। स्वाधीन होते ही साधक 'स्व' में अपने परम प्रेमास्पद को पा जाता है और फिर वास्तविक आस्था उदय हो जाती है। यही आस्तिक-वाद है। आस्तिक के जीवन में प्रेम तथा प्रेमास्पद का नित्य विहार ही शेष रहता है। इतना ही नहीं, कर्तव्यनिष्ठ जगत् के लिए उपयोगी होता है। यह मानव-जीवन की विलक्षणता है। मानव का निर्माण जिसने किया है, उसी में आस्था रहनी चाहिए।

मानव का स्वरूप क्या है ? तो स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्यपरायणता, विवेक और विश्वास ही मानव का स्वरूप है। 'मानव' प्रकृति का कार्य नहीं है। प्रकृति का कार्य तो शरीर है। शरीर मानव का स्वरूप नहीं है। कर्तव्यपरायणता, विवेक का प्रकाश और विश्वास का तत्व जिसमें है, वही 'मानव' है। मानव 'मानव' होने से साधक है। साधक होने से सत्य को

स्वीकार करना उसका परम पुरुषार्थ तथा स्वधर्म है। इसी कारण मानव सेवा संघ ने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामूहिक सत्संग की प्रेरणा दी है। व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा मानव अपने को कर्तव्यनिष्ठ, विवेकी और प्रेम-तत्व से अभिन्न कर सकता है। व्यक्तिगत सत्संग सम्पन्न होते ही व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान हो जाता है। व्यक्तिगत समस्या हल होते ही पारिवारिक तथा सामूहिक समस्या भी हल हो जाती है। अतएव व्यक्तिगत सत्संग परम अनिवार्य है।

मुझ पर सभी का अधिकार है और मेरा किसी पर नहीं है—इस महामंत्र को अपनाकर मानव कर्तव्यपरायण अर्थात् धर्मात्मा और विवेकी हो जाता है। धर्मात्मा होने से जगत् के लिए और विवेकी होने से अपने लिए उपयोगी होता है और फिर उसे अपने रचयिता की आस्था प्राप्त होती है, जिसे अपनाकर वह परम प्रेम से अभिन्न हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रभु-विश्वास की अपेक्षा है। प्रभु-विश्वास का उपयोग केवल प्रभु-प्राप्ति में ही है।

परमात्मा उसे नहीं कहते, जो सदैव होने से अभी न हो, सर्वत्र होने से अपने में न हो, सभी का होने से अपना न हो तथा अद्वितीय एवं समर्थ न हो। यह भक्त वाणी से सुना है। संसार के काम आने के लिए कर्त्तव्य परायणता पर्याप्त है। सर्व-दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति तथा अमर जीवन के लिए निज-ज्ञान का आदर अनिवार्य है। ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति होती है, यह जीवन का सत्य है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२५४

श्रीवृन्दावन
१५-१-७४

भगवत्कृपाश्रिता परम भागवत प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

प्रभु-विश्वास के समान और कोई परम औषधि नहीं है। उसी का सहारा लो, उसी की चर्चा करो, जिससे मानसिक शान्ति सुरक्षित रहे। निश्चिन्तता तथा निर्भयता आने से प्राण-शक्ति सबल होती है, जो रोग मिटाने में समर्थ है। उसके लिए हरि-आश्रय तथा विश्राम ही अचूक उपाय है। भय तथा चिंता-रहित होने से मानसिक विश्राम होता है और हरि-आश्रय से निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। जो सभी के अपने हैं, उन्हीं के होकर रहो, उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२५५

श्रीवृन्दावन
१८-१-७४

प्रभु आश्रिता परम भागवत प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय रहो, यही मेरी सद्भावना है।

संकल्प पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। जीवन की तो वास्तविक माँग है, जो सबल तथा स्थायी हो जाने पर स्वतः पूरी हो जाती है और फिर साधक सदा के लिए निर्विकल्प होकर अभय हो जाता है। संकल्प-पूर्ति के सुख को पसन्द करने से नवीन संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण सजग साधक संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगते, उसे जीवन नहीं मानते। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि संकल्प संसार से और माँग अपने परम आत्मीय प्रभु से सम्बन्ध जोड़ती है।

संसार के सम्बन्ध से अभाव, पराधीनता, अशान्ति और नीरसता ही उत्पन्न होती है। और प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध से अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की जननी है। अतएव सभी संकल्प एक माँग में, सभी सम्बन्ध प्राणप्यारे की आत्मीयता में एवं सभी विश्वास प्रभु विश्वास में विलीन करना अनिवार्य है। इस सत्य को स्वीकार करने में प्रभु-विश्वासी साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव-मात्र को अपने रचयिता

से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही जीवन का सत्य है और सत्य को स्वीकार करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है।

प्रभु-विश्वासी के जीवन में किसी अन्य विश्वास के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम दोनों को पूर्ण आत्मीयता प्रदान करें, इसी सद्-भावना के साथ,

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

२५६

करनाल

२८-३-७४

अहैतुकी कृपा से पालित प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो और उन्हीं के नाते सद्भावपूर्वक मानव-समाज की मूक सेवा करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक सत्संग के द्वारा ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक शान्ति की स्थापना हो सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। कर्तव्यपरायणता की विस्मृति से मानव-समाज अधिकार-लोलुपता में आबद्ध होकर संघष में फँस गया है और हमारा देश नेता-विहीन होने के कारण मनमानी करने लगा है। विवेक का अनादर होने के कारण बल का दुरुपयोग होने लगा

है यही मूल भूल है। इसका निवारण कर्तव्य-परायणता को अपनाने पर ही सम्भव है। आज हमें जीने और मरने का सदुपयोग करना नहीं आता। यदि मरना भी ठीक आ जाता, तो भी समाज में सजगता आ जाती। इस समय मूक सेवा के अतिरिक्त और कोई अचूक अस्त्र नहीं है। ऐसा मेरा अनुभव है। सुख-दुःख का सदुपयोग भूल जाने से हमारी दुर्दशा हो रही है। सुख-दुःख दोनों ही प्राकृतिक तथ्य हैं और रहेंगे ही। उनके सदुपयोग में ही मानव की स्वाधीनता है, जिसे आज हम भूल गये हैं।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को प्राप्त सुख-दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन को प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जायँ। असन्तुष्ट होने से ही संघर्ष का जन्म होता है और ऐसी दशा में हमें सही राह नहीं सूझती। जीवनधन अपने में है—इस वास्तविकता के भूल जाने से हम परिस्थितियों में जीवन की खोज करते हैं, जो कि सम्भव नहीं है। परिस्थितियाँ साधन-सामग्री भले ही हों, साध्य नहीं है। साध्य की विस्मृति से ही साधन-सामग्री को साध्य मान बैठते हैं, जो कि वास्तव में प्रमाद है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

... .

२५७

हरिद्वार
२-४-७४

परम भागवत साधननिष्ठ प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर उन्हीं के नाते सोई हुई प्रीति को जगाने के लिए विधिवत् पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो—इसी सद्भावना के साथ सप्रेम यथोचित।

सभी जरूरी काम प्रभु के मंगलयम विधान से स्वतः होते रहते हैं और यदि साधक सजगतापूर्वक काम-रहित हो जाय, तो वास्तविक माँग स्वतः पूरी हो जाती है, यह जीवन का सत्य है।

प्रत्येक साधक को अपने ही द्वारा ज्ञान के प्रकाश में अपने आकर्षण को देखना चाहिए। कारण कि, आकर्षण के अनुरूप ही शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं और फिर साधक अपनी वास्तविक माँग को भूल जाता है। इतना ही नहीं, अपने आकर्षण का यथेष्ट अनुभव करने पर वास्तविक माँग की जागृति होती है और वह काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। पराधीनता के आकर्षण ने ही हमें 'अपने, से अपने को विमुख कर दिया है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि साधक पराधीनता की पीड़ा ने पीड़ित होकर स्वाधीनता की माँग

अनुभव करे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है, यह सजग साधक का अनुभव है।

लक्ष्य पर दृष्टि रखकर पर-सेवा से पराधीनता की रुचि स्वाधीनता की माँग में बदल जाती है। स्वाधीनता की माँग ही स्वाधीनता की प्राप्ति का अचूक उपाय है, यह निर्विवाद सत्य है। पराधीनता असह्य हो जाय, यही मानव का परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता से जन्मजात् प्राप्त है। मानव अपनी ही भूल से स्वाधीनता से निराश होकर पराधीनता में आबद्ध हो गया है, जो विनाश का मूल है।

वास्तविक मांग अवश्य पूरी होती है, इस सत्य में अविचल आस्था रहनी चाहिए। सर्वतोमुखी विकास स्वतः होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को स्वाधीन होने की तीव्र लालसा प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को सादर अभिवादन !

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२५८

श्रीवृन्दावन
२४-७-७४

प्रीतिस्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से अपने परम प्रेमास्पद की होकर रहो, उन्हीं के नाते सभी को आदर दो और सभी के प्रति सद्भाव रखते हुए सर्वदा उत्तरोत्तर प्रीति की भूख बढ़ती रहे—इसी सद्-भावना के साथ सस्नेह अभिवादन !

माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है—इस वास्तविकता को स्वीकार करने पर साधक के जीवन में उत्तरोत्तर उत्कण्ठा तथा लालसा बढ़ती ही रहती है और यही माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है। साधक ज्यों-ज्यों साध्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उसमें स्वतः साधन की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधना जीवन हो जाती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। शरणागत साधक के जीवन में चिर-शान्ति, जीवन-मुक्ति एवं अनन्य भक्ति से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से शरणागत को सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहना चाहिए और प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए, सफलता अवश्यम्भावी है।

जीवन के सत्य को स्वीकार करने पर साधक का कुछ और प्रयास शेष नहीं रहता। जीवन का सत्य क्या है ? मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना और अचाह होकर सभी के प्रति सद्भाव रखना और इस वास्तविकता को स्वीकार करना कि

सर्व-समर्थ प्रभु सभी के होने से अपने हैं, तथा सदैव होने से अभी हैं एवं सर्वत्र होने से अपने ही में हैं। अपना अपने को स्वतः प्यारा लगता ही है।

जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता की गन्ध भी नहीं रहती। सर्वांश में नीरसता का नाश होते ही काम, अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता और फिर शरणागत साधक का प्रेम तथा प्रेमास्पद के नित्य विहार में प्रवेश हो जाता है। प्रीति और प्रीतम का परस्पर प्रेम का आदान-प्रदान स्वभाव से होता ही रहता है। वे प्रेम-निधि मिली हुई प्रीति को उत्तरोत्तर बढ़ाते ही रहते हैं। प्रीतम को प्रीति अत्यन्त प्रिय है और प्रीति ने तो प्रीतम से भिन्न के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया। प्रीति सर्वत्र प्रीतम को ही देखती है और प्रीति की दृष्टि में भी कोई और है ही नहीं। इस दृष्टि से सब ओर सर्वकाल में अपने प्यारे ही हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था हो जाने पर जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

सर्व-समर्थ करुणासागर अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी प्रियता करें—इसी सद्भावना के साथ,

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२५६

श्रीवृन्दावन
२६-७-७४

सेवा परायण प्रीतिस्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा जीवन के सत्य को स्वीकार कर प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में नित्य वास करो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम अभिवादन !

आज मानव-समाज संघर्ष, अशान्ति, पराधीनता तथा अनेक अभावों से पीड़ित क्यों है ? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब तक मानव बल का दुरुपयोग तथा ज्ञान का अनादर एवं प्रभु-विश्वास में विकल्प करता रहेगा, तब तक उसकी वही दशा रहेगी, जिसे आज हम लोग देख रहे हैं। प्राणी और मानव में एक भेद है—वह यह कि मानव को मानव के रचयिता ने बल, विवेक तथा विश्वास का तत्व दिया है; अन्य प्राणियों में विवेक और विश्वास का तत्व नहीं है। इस कारण अन्य प्राणी सुख की दासता एवं दुःख के भय से पीड़ित ही रहते हैं।

यदि मानव ज्ञान का आदर करे, जो उसे नित्य प्राप्त है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक धर्मात्मा होकर जगत् के लिए, जीवन-मुक्त होकर अपने लिए और भक्त होकर प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। वही मानव अपने ही प्रमाद से बल का दुरुपयोग, विवेक का अनादर और विश्वास में विकल्प करने से सर्वश्रेष्ठ होने पर भी आज पशु, पक्षी तथा हिंसक जन्तुओं से भी निम्न कोटि में चला गया है।

ऐसी भयंकर परिस्थिति ने सजग मानव को अपने जीवन के द्वारा मानवता को विभु बनाना है, जो एकमात्र मिले हुए ज्ञान के प्रकाश का आदर करने से ही सम्भव है। बल के दुरुपयोग न करने का व्रत अनिवार्य है। तभी मानव कर्तव्य-परायण अर्थात् धर्मात्मा हो सकेगा। धर्मात्मा से होने चित्त शुद्ध हो जाता है और ज्ञान पूर्वक अकिंचन तथा अचाह होने से चित्त शान्त हो जाता है, जिसके होते ही मानव आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक गुरुवाणी, वेदवाणी तथा भक्तवाणी से सुने हुए प्रभु में आत्मीयता स्वीकार कर सोई हुई स्मृति तथा प्रियता को जगाकर प्रेम तत्व से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए अभाव, पराधीनता एवं नीरसता से रहित हो जाता है।

अर्थात् मानव धर्मात्मा होकर जगत् के लिए एवं प्रेमी होकर प्रभु के लिए उपयोगी होता है, यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करना ही मानव का स्वधर्म एवं परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता उसे अपने रचयिता से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम उदार, स्वाधीन एवं प्रेम परिपूर्ण होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाओ—इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

२६०

श्रीवृन्दावन

३०-७-७४

अहैतुकी कृपा से पालित प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

प्रेमास्पद को सभी प्रेमी प्रिय है, इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। अब रही अपनी ओर की बात। वे यह जानते हैं कि तुम उनकी हो। भक्त वाणी के अधार पर तुम उन्हें अपना मान लो। बस, इतना ही तुम्हारा प्रयास है। यह सर्वमान्य सत्य है कि अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता ही है। प्रिय की मधुर स्मृति उत्तरोत्तर बढ़ती है। उनसे भिन्न तुम्हारा और कोई किसी भी काल में नहीं है। तुम्हें जो कभी भी अपना करके प्रतीत होता था, वह भी उन्हीं का है, उन्हीं का दिया हुआ है। तुम अकिंचन तथा अचाह होकर उनकी पावन प्रीति से अभिन्न हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करना है। आवश्यक सामर्थ्य स्वतः मिलती है। यह मंगलमय विधान है। सामर्थ्य का सद्व्यय होते ही कर्तव्य प्रियता में स्वतः बदल जाता है। बस, यही सेवा का तत्व है। उदारता, स्वाधीनता तथा प्रियता तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। अतः शरीर कैसा है? इस ओर ध्यान जाना ही भारी भूल है। सेवा-परायण होते ही शरीर की सुरक्षा का प्रश्न समर्थ सेव्य पर हो जाता है, सेवक पर नहीं रहता। सद्भाव की सेवा तो क्रियात्मक सेवा से अधिक महत्वपूर्ण तथा विभु है। इस सत्य

को स्वीकार कर सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहो।

प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसके लिए कोई क्रियात्मक प्रयोग नहीं है। प्रेमास्पद की महिमा को अपनाना ही अचूक उपाय है। प्रिय के नाते होने वाली प्रवृत्ति पूजा है। पूजा होती रहती है और प्रियता बढ़ती रहती है। यह प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता एवं हृदय में निर्भयता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२६१

श्रीवृन्दावन
१३-८-७४

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी सुरलिया,

पर-पीड़ा से पीड़ित होकर प्राणि-मात्र की मूक सेवा करती रहो तथा प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करो, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन !

मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से आवश्यक सामर्थ्य स्वत: प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक विधान है। सोई हुई मानवता जगाने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। आज मानव-समाज अपने सत्य को स्वीकार करने में आनाकानी करने लगा है। उसी का यह परिणाम है कि जो जीवन सभी के लिए उपयोगी था, आज अनुपयोगी हो गया है। ऐसी भयंकर परि-

स्थिति में सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानवमात्र को उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्रदान करें, यही मेरी सद्-भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रत्येक कर्तव्य-कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उनकी मधुर स्मृति से अभिन्न हो जाओ और फिर अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृतकृत्य हो जाओ। वास्तविक जीवन प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में ही है, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है।

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२६२

श्रीवृन्दावन

१६-८-७४

परम भागवत स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो !

अलौकिक, अविनाशी, रसरूप, चिन्मय-जीवन की माँग प्रत्येक साधक की अपनी माँग है। लौकिक सामर्थ्य के द्वारा अलौकिक जीवन की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु अलौकिक जीवन की प्राप्ति के लिए लौकिक शक्तियों के द्वारा लोक-सेवा अत्यन्त

आवश्यक है। सेवा का अन्त त्याग तथा प्रेम में स्वतः हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। वस्तु,योग्यता,सामर्थ्य के द्वारा मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होकर यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है। सद्भाव असीम और सहयोग यथासम्भव हो सकता है। सहयोग के अन्त में साधक सद्भाव में विलीन होकर स्वतः लोक-सेवा से अभिन्न हो जाता है और फिर सेवा, त्याग, प्रेम जीवन हो जाता है—सेवा अर्थात् उदारता और त्याग अर्थात् स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम साधक के विकास की चरम सीमा है। यही साध्य की महिमा है। महा-महिम की महिमा से अभिन्न होकर साधक साध्य से अभिन्न होता है। अतः लौकिक सामग्री के द्वारा अलौकिक जीवन के लिए लोक-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अलौकिक जीवन की आवश्यकता को ही अपनी वास्तविक माँग स्वीकार किया है।

अलौकिक जीवन की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। ज्यों-ज्यों माँग सबल होती जायगी, त्यों-त्यों काम का स्वतः नाश होता जायगा। सर्वांश में काम का नाश होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अविषय होकर अलौकिक जीवन की प्रियता में विलीन हो जाती हैं। यह जीवन का सत्य है। और इसी अलौकिक जीवन को प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार कह सकते हैं। इस जीवन में प्रवेश पाना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें—इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

२६३

श्रीवृन्दावन
२७-८-७४

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीति-स्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया !

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो !

यद्यपि तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, यह अनुभूति सत्य है, परन्तु सेवा-सामग्री का उपयोग होता रहे, तो हर्ष होता है। पर क्या किया जाय, इसमें अपना कोई वश तो है नहीं। जैसा उन्हें अच्छा लगे वैसा करें, पर हृदय की व्यथा तो यही है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अभिमान की गन्ध भी न रहे। अभिमान प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच एक आवरण है। उसकी निवृत्ति होने पर ही प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार सतत होता रहता है। मेरे जानते यही मानव-जीवन के विकास की चरम सीमा है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर करुणामय ने अपने ही में से अपने मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हें अत्यन्त प्रिय है। किन्तु मानव में भी उनकी अगाध प्रियता उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। यहाँ तक कि मिलन में विरह, विरह में मिलन सतत होता रहे, यह माँग प्रेमीजनों की अपनी माँग है। इस अलौकिक रस के लिए ही विवेकीजन शान्ति तथा स्वाधीनता में रमण नहीं करते। जब सब कुछ उन्हीं का है और सभी में सदैव वे स्वयं हैं, तो अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता से भिन्न साधक का अस्तित्व ही कुछ नहीं है। सजग साधक को शरीर के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से

मुक्त होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न से ही साध्य है। सब कुछ उन्हीं का है, इस सत्य को स्वीकार करते ही साधक अकिंचन होकर अभय हो जाता है। किन्तु सत्ता रूप से वे ही हैं, इस वास्तविकता को अपनाते ही प्रियता का उदय होता है। प्रियता जिसमें उदय होती है उसको अपने से अभिन्न कर, जिसके प्रति होती है, उसे नित-नव रस प्रदान करती है। यही शरणागत साधकों की उत्कट लालसा रहती है। जीवन प्रिय के लिए रस-रूप हो जाय, इस माँग में समस्त कामनाएँ विलीन हो जानी चाहिए, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से सम्भव है। केवल प्रभु ही अपने हैं, यह सभी प्रभु-विश्वासियों का अनुभव है। इस अनुभव में अविचल आस्था कर सभी शरणागतों को सोई हुई आत्मीयता को जगाना चाहिए। उनसे भिन्न अपना करके कुछ नहीं है, इस सत्य को विवेकपूर्वक अनुभव करो और आप्तकाम होकर अपने में अगाध प्रियता का उदय होने दो। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसी को प्रेमास्पद अपना प्रेमतत्व प्रदान करते हैं। जिसे कुछ और चाहिए उसे प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इस सत्य को अपनाकर अचाह एवं अप्रयत्न होकर प्रेमतत्व से अभिन्न हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ, ...

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२६४

श्रीवृन्दावन
१२-९-७४

परम भागवत प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया !

सर्वदा सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो, और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखो। इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

यह सभी शरणागत साधकों का मत है कि जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब प्यारे प्रभु का है और सभी में वे स्वयं हैं। उनका प्रेम ही एकमात्र अपना जीवन है और प्रेम तथा प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से ही साध्य है। जिस प्रकार शरीर और संसार की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार साधक का साध्य से नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एकता और आत्मीयता है। प्रेमास्पद की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे पवित्र भाव से विधिवत् करना है। साधक के जीवन में पल भर के लिए भी साध्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए, अपितु सतत स्मृति होती रहे, प्रियता बढ़ती रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक अपनी बनायी हुई भूल का अन्त कर देगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत सत्संग अनिवार्य है। सत्संग-योजना ही एकमात्र व्यक्तिगत तथा सामूहिक समस्याओं का हल है। कारण कि, भूल-रहित होने से

ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। सृष्टि किसी व्यक्ति की बनाई हुई नहीं है। सृष्टिकर्ता ने अपने ही में से सृष्टि का निर्माण किया है। अथवा यों कहो कि अपनी विभूतियों से सृष्टि बनायी है और अपने में से ही साधक का निर्माण किया है। जब साधक इस वास्तविक आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है, तब उसे यह चेतना मिलती है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अहं अभिमान-शून्य हो जाय। इस वास्तविक माँग का अनुभव करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है। माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। कारण कि वास्तविक माँग की जागृति होने पर काम अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता और फिर स्वतः माँग पूरी हो जाती है, यह जीवन का सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

ॐ आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

.....

२६५

श्रीवृन्दावन
४-१०-७४

भगवत् कृपाश्रिता भक्तिमती !

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो। उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखो, तो फिर उन्हीं में नित्य वास रहेगा। यह जीवन का सत्य है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी

कृपा से तुम्हें अकिंचन और अचाह होने की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम आत्मीयता से जागृत प्रियता को पाकर कृतकृत्य हो जाओ—यही मेरी सद्भावना है।

मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना विश्व-सेवा, प्रभु के नाते पवित्र भाव से सभी के प्रति सद्भाव और यथा शक्ति सत्कार्य करना समाज-सेवा, अकिंचन होकर अचाह होना अपनी सेवा और आत्मीयता से जागृत सोई हुई प्रीति जगाना प्रभु-सेवा है। प्रभु-सेवा में सभी सेवाएँ स्वतः विलीन हो जाती हैं। यह जीवन का सत्य है। प्रभु-प्रेमियों के द्वारा स्वतः सभी का सर्वतोमुखी विकास होता है। विश्व-सेवा से साधक अपनी सेवा का अधिकारी हो जाता है और अपनी सेवा होने पर प्रभु-सेवा की सामर्थ्य आती है। सेवा त्याग तथा प्रेम की जननी है। सेवा के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करना अनिवार्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें सेवा द्वारा त्याग तथा प्रेम प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अकिंचन

मानव सेवा संघ के प्रकाशन

नाम पुस्तक	पृष्ठ सं०	मूल्य
१. सन्त समागम भाग १	२५६	३-००
२. सन्त समागम भाग २	१६०	५-००
३. सन्त समागम भाग ३	१६४	५-००
४. जीवन दर्शन भाग १	१७६	५-५०
५. जीवन दर्शन भाग २	१९०	६-००
६. चित्त शुद्धि भाग १	२०८	४-५०
७. चित्त शुद्धि भाग २	२५२	५-५०
८. सन्त वाणी भाग १ (सफलता की कुञ्जी)	१५२	३-००
९. सन्त वाणी भाग २	१६८	७-००
१०. सन्त वाणी भाग ३	१७६	७-५०
११. सन्त वाणी भाग ६	१९०	७-००
१२. सन्त वाणी भाग ७	१९६	७-००
१३. जीवन विवेचन भाग ३	२७०	१०-००
१४. जीवन विवेचन भाग ४	२६६	१०-००
१५. जीवन विवेचन भाग ५	२८७	१२-००
१६. प्रश्नोत्तरी (सन्तवाणी)	१२८	५-००
१७. साधन-तत्व	१०४	२-५०
१८. जीवन पथ	१४०	४-५०
१९. मानवता के मूल सिद्धान्त	९६	४-५०
२०. मूक सत्संग तथा नित्य योग	२२४	६-००
२१. मानव दर्शन	२०८	३-००
२२. मंगलमय विधान	७०	१-५०
२३. साधन निधि	१६०	२-५०
२४. मानव सेवा संघ परिचय	३६	१-५०

नाम पुस्तक	पृष्ठ सं०	मूल्य
२५. आचार संहिता	३२	१-००
२६. दर्शन और नीति	१२०	३-५०
२७. दुःख का प्रभाव	१२८	५-००
28. A Saint's call to Mankind	192	5-00
29. Sadhana-spotlight by a Saint	70	1-50
30. Revelation of the Spiritual Path	64	8-00
३१. पाथेय भाग १	१९२	७-५०
३२. पाथेय भाग २	१६८	७-००
३३. पथ-प्रदीप	९४	५-००

मिलने का पता—

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र. २८११२१

जीवन-दर्शन

(संघ का मासिक मुख पत्र)

मानव-मात्र में निज कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण की चेतना देने वाला, संघ के स्वरूप तथा उसकी विचार-धारा का प्रतीक, साधकों के लिए सही पथ-निदर्शक, सभी का सच्चा सखा, सर्वथा पठनीय। वार्षिक शुल्क २०/-मात्र। आजीवन हेतु १५१/- मात्र।

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.. २८११२१

"कल्पना करो—किसी को ऐसी प्यास लगी हो, जो कभी बुझे नहीं, और ऐसा जल मिल जाय, जो कभी घटे नहीं और ऐसा पेट हो जाय जो कभी भरे नहीं। तब आप क्या कहेंगे ? तब आपको कहना पड़ेगा कि प्रत्येक घूंट पर एक नया रस है। क्या नया रस है ? कि प्यास बुझती नहीं, पेट भरता नहीं, जल घटता नहीं। यही वास्तव में अगाध रस है, अनन्त रस है, नित्य रस है। और वह रस मानवमात्र को प्राप्त हो सकता है।"

—सतवाणी

मूल्य Rs 10 [४,००० प्रतियाँ